MAHI-101

हिन्दी काव्य

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(आदि काव्य, भक्ति काव्य एवं रीति काव्य)

खंड
1
आदि काव्य

इकाई 1
पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, भाषा और काव्यरूप 1

इकाई 2
पृथ्वीराज रासो का काव्यत्व 17

इकाई 3
विद्यापति और उनका युग 28

इकाई 4
गीतिकाव्य के रूप में विद्यापति पदावली 39

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी
गुरूनानक देव
विश्वविद्यालय, अमृतसर

प्रो. गोपाल राय
सी-3, कावेरी, इग्नो आवासीय
परिसर, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली

प्रो. नामवर सिंह
32-ए, शिवालिक अपार्टमेंट
अलकनंदा, नई दिल्ली

प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. निर्मला जैन
ए-21/17, कुतुब एन्क्लेव, फेज़-1
गुड़गाँव, हरियाणा

प्रो. प्रेम शंकर
बी-16, सागर विश्वविद्यालय परिसर
सागर

प्रो. मुजीब रिज़वी
220, ज़ाकिर नगर
नई दिल्ली

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
3, बैंक रोड, इलाहाबाद

प्रो. लल्लन राय
3, प्रीत विला, समर हिल
शिमला

प्रो. शिवकुमार मिश्र
एफ-17, मानसरोवर पार्क कालोनी
पंचायती हॉस्पिटल मार्ग
वल्लभ विद्यानगर, गुजरात

स्व0 शिव प्रसाद सिंह

प्रो. सूरजभान सिंह
आई-27, नारायणा विहार
नई दिल्ली

संकाय सदस्य
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
डॉ. जवरीमल पारख
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. नीलम फारुकी
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
श्रीमती विमल खांडेकर

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पाठ लेखक	इकाई सं0
डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी बी-5/एफ-2, दिलशाद गार्डन दिल्ली	1 एवं 2
डॉ. खगेन्द्र ठाकुर 10, एम.एल.ए. फ्लैट पटना	3
डॉ. देवशंकर नवीन नेशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली	4

सम्पादक
प्रो. मैनेजर पाण्डेय

पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ0 सत्यकाम

संकाय पाठ्यक्रम समिति
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. सत्यकाम (संयोजक)

सहयोग
डॉ. अखिलेश दुबे

निर्माण

मुद्रण
सुश्री पुष्पा गुप्ता
कॉपी एडिटर

सी.आर.सी.
श्री नरेश कुमार

सचिवालयी सहयोग
श्री हरीश कुमार सेठी
श्री रामवचन प्रजापति
श्री महावीर सिंह सैनी

अक्टूबर, 2003 (पुनः मुद्रण)

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1999

ISBN-81-7605-480-1

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, 2024.

मुद्रक : के. सी. प्रिन्टिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा – 281003.

पाठ्यक्रम परिचय : हिंदी काव्य-1

एम.ए. हिंदी का पहला पाठ्यक्रम आपके सामने है। **इस पाठ्यक्रम में आदिकाव्य, भक्ति काव्य और रीतिकाव्य को शामिल किया गया है।** आदिकाव्य के अंतर्गत **पृथ्वीराज रासो और विद्यापति पदावली** का अध्ययन किया गया है। भक्ति काव्य के अंतर्गत **कबीर, जायसी, सूर, मीरां और तुलसी** की रचनाओं का अध्ययन किया गया है। रीतिकाव्य में **बिहारी, घनानंद और पद्माकर की कविता को** शामिल किया गया है।

इस पाठ्यक्रम के अध्ययन के लिए आपको निम्नलिखित मुद्रित सामग्रियाँ उपलब्ध कराई जाएँगीः

1. पाठ्यक्रम दर्शिका
2. इकाइयों के रूप में पाठ
3. पाठ्यपुस्तक
4. लेखों का संग्रह

इसके अलावा ऑडियो-वीडियो पाठ भी उपलब्ध कराया जाएगा।

इन सभी सामग्रियों के सहयोग से आपको अध्ययन करना होगा। **इस पाठ्यक्रम का मूल उद्देश्य** आदिकालीन, भक्तिकालीन और रीतिकालीन प्रमुख रचनाओं का अध्ययन करना है। **यह कविता का** पर्चा है इसलिए इस पाठ्यक्रम में गद्य को शामिल नहीं किया गया है। **वैसे भी हमारे अध्ययन काल में** रची गई रचनाओं में कविता की ही प्रधानता रही है। **इस युग में गद्य की धारा अत्यंत क्षीण थी।**

इस पाठ्यक्रम में शामिल इकाइयों को चार खंडों में विभाजित किया है। प्रत्येक खंड पुस्तकाकार में आपको उपलब्ध होगा। इनका ब्यौरा इस प्रकार हैः

खंड-1 आदिकाव्य

इकाई-1 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, भाषा और काव्यरूप
इकाई-2 पृथ्वीराज रासो का काव्यत्व
इकाई-3 विद्यापति और उनका युग
इकाई-4 गीतिकाव्य के रूप में विद्यापति पदावली

खंड-2 भक्ति काव्य-1 (निर्गुण काव्य)

इकाई-5 कबीर की विचार चेतना और प्रासंगिकता
इकाई-6 कबीर का काव्य-शिल्प
इकाई-7 सूफ़ी मत और जायसी का पदमावत
इकाई-8 पदमावत में लोक परंपरा और लोक जीवन

खंड-3 भक्ति काव्य-2 (सगुण काव्य)

इकाई-9 भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूर का महत्व
इकाई-10 सूरदास के काव्य में प्रेम
इकाई-11 मीरां का काव्य और समाज
इकाई-12 मीरां का काव्य सौंदर्य
इकाई-13 तुलसीदास के काव्य में युग संदर्भ
इकाई-14 एक कवि के रूप में तुलसीदास

खंड-4 रीति काव्य

इकाई-15 बिहारी के काव्य का महत्व
इकाई-16 घनानंद के काव्य में स्वच्छंद चेतना
इकाई-17 पद्माकर की कविता

जैसा कि हमने आपको बताया कि इस पाठ्यक्रम में आदिकालीन, भक्तिकालीन और रीतिकालीन प्रमुख काव्य ग्रंथों और कविताओं का अध्ययन किया गया है। आदिकाल के अंतर्गत **पृथ्वीराज रासो** और विद्यापति पदावली को अध्ययन के लिए चुना गया है। दूसरे खंड में निर्गुण काव्य के अंतर्गत कबीर की कविता और जायसी के 'पदमावत' का अध्ययन किया गया है। इसी प्रकार तीसरे खंड में सगुण काव्य के अंतर्गत **सूर, मीरां और तुलसी** की कविता की विशेषताओं को परखा गया है।

NMDC-064

अंत में, खंड-4 में रीतिकाव्य के अंतर्गत बिहारी, घनानंद और पद्माकर की कविताओं का अध्ययन किया गया है।

आदिकाल और भक्तिकाल की प्रत्येक रचना या रचनाकार पर दो-दो इकाइयाँ तैयार की गई हैं। पहली इकाइयों में रचना या रचनाकार का सामान्य परिचय, युग और पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है। दूसरी इकाइयों में काव्य विशेष का अध्ययन किया गया है। रीतिकाव्य के अंतर्गत तीन कवियों को शामिल किया गया है और इन तीनों रचनाकारों और उनकी रचना को केंद्र में रखकर एक-एक इकाई तैयार की गई है। इसमें रीतिकाल की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों - रीति सिद्ध (बिहारी), रीति मुक्त (घनानंद) और रीति बद्ध (पद्माकर) के एक-एक प्रतिनिधि कवि का अध्ययन किया गया है।

जैसा कि हम अनुरोध कर चुके हैं कि इन इकाइयों को पढ़ने से पहले आप एक बार पाठ्यक्रम दर्शिका अवश्य पढ़ लें। इससे आपको इस पाठ्यक्रम को पढ़ने में मदद मिलेगी। इसके अलावा हम आपको एक पाठ्यपुस्तक भी उपलब्ध कराएँगे जिसमें पाठ्यक्रम में शामिल कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। इसके अलावा लेखों का एक संग्रह भी आपके लिए तैयार किया जा रहा है। इन सबके बारे में विस्तृत जानकारी आपको पाठ्यक्रम दर्शिका में मिलेगी।

NMDC-064

खंड-1 (आदिकाव्य) का परिचय

हिंदी साहित्य का आदिकाल विविधताओं से परिपूर्ण है। यह हिंदी साहित्य का निर्माण काल है। अतः इसमें किसी खास तरह का साहित्य नहीं लिखा गया बल्कि भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों वाले साहित्य की रचना की गई। इस युग में धार्मिक, शृंगारिक, लौकिक और चरित काव्यों की रचना हुई। पृथ्वीराज रासो आदिकाल में रचित प्रमुख चरित काव्य है। इसमें कवि चंदवरदाई ने अपने चरित नायक पृथ्वीराज चौहान की 'आँखों देखी कथा' सुनाई है।

चंदवरदाई कृत पृथ्वीराज रासो जितना लोकप्रिय है उतना ही विवादग्रस्त। इसलिए इस चरित काव्य की विशेषताओं को जानने से पहले इकाई-1 में इसकी प्रामाणिकता से जुड़े सवालों पर विचार किया गया है साथ ही साथ पृथ्वीराज रासो की भाषा और इसमें प्रयुक्त काव्यरूप पर भी विचार किया गया है।

इकाई-2 में पृथ्वीराज रासो के काव्यत्व का विवेचन किया गया है। इसमें इस काव्य ग्रंथ की विषयवस्तु और काव्य सौंदर्य की अलग से चर्चा की गई है। आदिकाल में विभिन्न प्रवृत्तियों और धाराओं का जन्म एक साथ हुआ। भाषा भी कई स्तरों पर चली। इस युग के कवियों ने ठेठ अपभ्रंश में रचना की, देशी मिश्रित अपभ्रंश में कविता लिखी और लोक में प्रचलित बोलियों में भी कविताई की। विद्यापति हिंदी साहित्य के आदिकाल और भक्तिकाल के संधि स्थल पर खड़े ऐसे अकेले कवि हैं जिन्होंने अपभ्रंश में भी रचना की और जनभाषा मैथिली में भी। उन्होंने चरित काव्य भी लिखे और भक्ति और शृंगारिक रचनाएँ भी की। विद्यापति की प्रसिद्धि और लोकप्रियता उनकी मैथिली में रचित पदावली के कारण है।

इकाई-3 में विद्यापति और उनका युग के अंतर्गत विद्यापति की रचनाओं के माध्यम से उनके युग को समझने का प्रयत्न किया गया है। उनकी रचनाओं खासकर-कीर्तिलता, कीर्तिपताका, लिखनावली आदि के जरिए उस युग को जानने में खास़ी मदद मिलती है। इस दृष्टि से विद्यापति की इन रचनाओं का विशेष महत्व है। इस इकाई में विद्यापति की भाषा पर भी विचार गया है।-भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने कई स्तरों पर अपनी प्रतिभा का प्रमाण दिया है। उनकी अपभ्रंश भाषा में मैथिली, फारसी, राजस्थानी, संस्कृत का अद्भुत संगम हुआ है। यह उनकी व्यापक दृष्टि का प्रमाण है। दूसरी ओर पदावली में कवि ने जनभाषा मैथिली को साहित्यिक गरिमा प्रदान की।

इकाई-4 में विद्यापति पदावली का अध्ययन किया गया है। विद्यापति पदावली मैथिली में रचित सुमधुर काव्य है जिसमें शृंगार और भक्ति का अनुपम संयोग हुआ है। परंतु प्रधानता इसमें शृंगार की ही है। विद्यापति हिंदी के प्रथम गीति काव्यकार हैं। इस दृष्टि से विद्यापति और उनकी इस रचना का महत्व बढ़ जाता है। इस इकाई में उनके इसी महत्व को समझने की कोशिश की गई है।

विशेष : आपकी पाठ्य पुस्तक में 'पृथ्वीराज रासो' के 'कनवज्ज समय और विद्यापति पदावली से चुने हुए पद शामिल किए गए हैं। इन इकाइयों को पढ़ने के साथ-साथ आप इन अंशों को भी पढ़ें तभी आप इन कविताओं को ठीक से समझ सकेंगे।

NMDC-064
MAHI-101/6

इकाई-1 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, भाषा और काव्यरूप

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता
1.2.1 ऐतिहासिकता
1.2.2 रचनाकार और रचनाकाल
1.2.3 मूल पाठ
1.2.4 साहित्यिक परम्परा
1.3 पृथ्वीराज रासो की भाषा
1.4 पृथ्वीराज रासो का काव्य रूप
1.4.1 रासो काव्य
1.4.2 कथानक रूढ़ियाँ
1.4.3 चरित काव्य
1.5 सारांश
1.6 प्रश्न/अभ्यास

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई हिंदी काव्य-1 की पहली इकाई है। इसमें **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। इसे पढ़ने के बाद आप:

- **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता और उसके आधारों का विश्लेषण कर सकेंगे,
- पृथ्वीराज रासो में प्रयुक्त भाषा से परिचित हो सकेंगे,
- इस काव्य ग्रंथ में प्रयुक्त काव्य रूपों की पहचान कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

हिंदी काव्य-1 की इस पहली इकाई में हम **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता, भाषा और काव्यरूप पर विचार करने जा रहे हैं। चंदवरदायी कृत **पृथ्वीराज रासो** हिंदी साहित्य के आदिकाल का सर्वाधिक विख्यात, लोकप्रिय और विवादग्रस्त महाकाव्य है। 1883 में बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसायटी ने **पृथ्वीराज रासो** का प्रकाशन आरंभ किया। रचना के प्रकाशित होने के पहले ही इसकी प्रामाणिकता को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया और इसका प्रकाशन रोक दिया गया। बाद में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इसे प्रकाशित किया। जो ग्रंथ अपने जन्म से ही विवादों से घिरा हो उसे पढ़ने से पहले इस संबंध मे दृष्टि साफ हो जानी चाहिए। इसी उद्देश्य से पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर विचार सबसे पहले करने का प्रयास किया जा रहा है। प्रामाणिकता के संबंध में जो मुख्य सवाल उठाए गए हैं वे इस प्रकार हैं:

1. पृथ्वीराज रासो का मूल रूप क्या है?
2. **पृथ्वीराज रासो** की रचना मूलतः कब की गई?
3. क्या चंदवरदायी ही मूल **पृथ्वीराज रासो** के रचयिता हैं?
4. क्या कवि चंदवरदायी इतिहास प्रसिद्ध राजा पृथ्वीराज चौहान के समकालीन थे?

प्रामाणिकता से जुड़े इन सवालों के अतिरिक्त इस इकाई में **पृथ्वीराज रासो** की भाषा और काव्यरूप पर भी विचार किया है। गौर करने की बात है कि **पृथ्वीराज रासो** की भाषा और काव्यरूप का विश्लेषण कर ही इसकी मूल कथा, संवेदना और शिल्प का पता लगाया जा सकता है। इसी डोर के सहारे हम **पृथ्वीराज रासो** के मूल अंश की खोज कर सकते हैं।

पृथ्वीराज रासो इतना लोकप्रिय क्यों हुआ? उसमें इतना प्रक्षेप क्यों किया गया? असल में, पृथ्वीराज रासो की लोकप्रियता में साहित्यिक के साथ-साथ युगीन परिस्थितियों का भी योगदान है। इसके कारण वह अपने युग एवं युगनायक की गाथा बनकर जातीय तथा राष्ट्रीय इतिहास की प्रबल रचना बन गई।

1.2 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

पृथ्वीराज रासो आदिकाल का सर्वाधिक विख्यात काव्य है। यह काव्य जितना विख्यात है उतना ही विवादग्रस्त। इस विवाद की पृष्ठभूमि से हमें परिचित हो लेना चाहिए।

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता जाँचने के लिए विद्वानों ने उसे इतिहास की कसौटी पर कसने की कोशिश की और उन्हें निराशा हाथ लगी। जिन विद्वानों ने इसे इतिहास ग्रंथ के रूप में देखा उन्होंने तो इसे जाली ग्रंथ ठहरा दिया। इसमें कोई शक नहीं कि यदि पृथ्वीराज रासो में हम इतिहास ढूंढने चलेंगे तो हमें निराशा ही हाथ लगेगी। आइए, देखें कि पृथ्वीराज रासो को इतिहास मानकर चलने वाले विद्वान क्या सोचते हैं:

1.2.1 ऐतिहासिकता

पृथ्वीराज रासो के विषय मे जो अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं उनसे यह आशा रखना स्वाभाविक है कि इस काव्य से पृथ्वीराजकालीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा। कहते हैं कि इस काव्य के रचयिता चंदवरदायी अपने आश्रयदाता पृथ्वीराज के दरबारी कवि ही नहीं उनके अंतरंग मित्र भी थे। अतएव इतिहासकारों विशेषतः पाश्चात्य प्राच्यविदों को आशा थी कि इससे 12वीं 13वीं शताब्दी के उत्तर भारत के विषय में प्रामाणिक जानकारी मिलेगी। लेकिन 1876 ई. में डॉ. बूलर नामक विद्वान को कश्मीर में पृथ्वीराज विजय नामक काव्य की खंडित प्रति मिली। यह काव्य भी पृथ्वीराज के जीवन पर आधारित है। डॉ. बूलर ने तुलना करके देखा कि पृथ्वीराज विजय में उल्लिखित घटनाएँ एवं तिथियाँ इतिहास सम्मत हैं जबकि रासो की इतिहास विरूद्ध।

इसके विपरीत अनेक विद्वानों ने रासो की प्रामाणिकता पर संदेह करने वाले तर्कों के विरुद्ध मत प्रकट किया और रासो की प्रामाणिकता का आग्रह किया। परिणामस्वरूप रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का विवाद चल पड़ा। रासो को अप्रामाणिक मानने वालों के तर्क संक्षेप में इस प्रकार हैं:

1. पृथ्वीराज रासो के अनुसार आबू के शासक जेत और सलक थे। किंतु इनका कोई उल्लेख तत्कालीन शिलालेखों में नहीं मिलता। इतिहास सम्मत तथ्य यह है कि उस समय आबू पर धारावर्ष परमार का शासन था।

2. रासो के अनुसार गुजरात के राजा भीमसेन को पृथ्वीराज ने मारा था। शिलालेखों के अनुसार वह पृथ्वीराज के बाद भी जीवित था।

3. इसी प्रकार रासो में लिखा है कि मुहम्मद गोरी को पृथ्वीराज चौहान ने शब्दबेधी बाण से मारा था। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि मुहम्मद गोरी 1203 ई. में गक्करों के हाथों मारा गया।

4. रासो में लिखा है कि पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह चित्तौड़ के राजा समरसिंह से हुआ था। यह असंभव है क्योंकि राजा समरसिंह का समय 13वीं शताब्दी ई. का उत्तरार्ध है जबकि पृथ्वीराज की मृत्यु 12वीं शती ई. में ही हो गई थी।

राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार महामहोपाध्याय गौरी शंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार "इस तरह हमने जाँच कर देखा कि पृथ्वीराज रासो बिल्कुल अनैतिहासिक ग्रंथ है। उसमें चौहानों, प्रतिहारों और सोलंकियों की उत्पत्ति संबंधी कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत सी घटनाओं के संवत् और प्रायः सभी घटनाएँ तथा सामंतों आदि के नाम अशुद्ध और कल्पित हैं। कुछ सुनी सुनायी बातों के आधार पर इस बृहत् काव्य की रचना की गई है .....। भाषा की दृष्टि से यह ग्रंथ प्राचीन नहीं दीखता।" (हिंदी साहित्य उद्‌भव और विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी से उद्धृत)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि "....ऐतिहासिक तथ्यों के साथ बिल्कुल मेल न खाने के कारण अनेक विद्वानों ने पृथ्वीराज रासो के पृथ्वीराज के समसामयिक किसी कवि की रचना होने में पूरा संदेह किया है और 16वीं शताब्दी में लिखा हुआ एक जाली ग्रंथ ठहराया है। रासो में चंगेज़, तैमूर

NMDC-064

आदि पीछे के नाम आने से यह संदेह ओर भी पुष्ट होता है।" (हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल) शुक्ल जी ने इसे परवर्ती रचना और भट्ट-भणन्त कहा।

रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वानों में बाबू श्यामसुंदर दास और रासो के सम्पादक मोहन लाल विष्णु लाल पंड्या उल्लेखनीय हैं। बाबू श्यामसुंदर दास इसे काव्य ग्रंथ मानकर इसे ऐतिहासिक तथ्यों की कसौटी पर कसे जाने को उचित नहीं मानते। पंड्या जी ने तो इसकी तिथियों को इतिहास-सम्मत सिद्ध करने के लिए एक संवत् - आनंद संवत् की कल्पना कर डाली। पंड्या जी के अनुसार रासो के उल्लिखित संवतों में विक्रमसंवत् से सर्वत्र 90-91 वर्षों का अंतर पड़ता है। इसका कारण यह है कि रासो की उल्लिखित तिथियाँ विक्रमसंवत् की नहीं आनंद संवत् के अनुसार हैं। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने रासो के इस दोहे को प्रस्तुत किया:

> एकादश सै पंचदह विक्रम साक अनंद
> तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद ।

उनके मतानुसार 'विक्रम साक अनंद' का अर्थ है - 90 (नब्बे) । अ का अर्थ शून्य और नंद का अर्थ नौ। अर्थात 91विक्रम संवत् में से 90 वर्ष घटा देने से 'अनंद संवत्' बनते हैं। (हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल के आधार पर)

पंड्या जी के इस विचार पर विद्वानों ने संदेह प्रकट किया और आनंद संवत् की धारणा मान्य नहीं हुई।

1.2.2 रचनाकार और रचनाकाल

अब यह तय हो गया है कि पृथ्वीराज रासो इतिहास ग्रंथ नहीं है काव्य-ग्रंथ है। परंतु प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का विवाद इस प्रश्न से भी जुड़ा है कि कवि चंदवरदाई पृथ्वीराज के समकालीन थे या उन्होंने बाद में पृथ्वीराज रासो की रचना की।

इस काव्य का रचनाकाल और भी विवादास्पद है। ओझा जी ने इसका रचनाकाल 16वीं शताब्दी अनुमानित किया था। शुक्ल जी इसे पृथ्वीराज चौहान के समय का काव्य नहीं मानते। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी का विचार है कि रासो का वर्तमान रूप अधिक से अधिक सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में ही प्राप्त हुआ होगा। पृथ्वीराज रासो के एक महत्वपूर्ण सम्पादक डॉ. माताप्रसाद गुप्त के अनुसार सभी दृष्टियों से पृथ्वीराज रासो की रचना सं. 1400 के लगभग हुई मानी जा सकती है, इससे पूर्व नहीं।

विद्वान् रासो को तो अप्रामाणिक मान ही चले थे, इस बात में ही संदेह करने लगे थे कि चंद नामक कोई रासोकार कवि हुआ भी था या नहीं। इसी बीच प्रसिद्ध अपभ्रंश-विद्वान् मुनिजिनविजय जी ने संग्रह के अंश जयचंद प्रबंध ही में से चार ऐसे छप्पयों का अनुसंधान किया जो चंद के नाम से हैं। इनमें से तीन छप्पय पृथ्वीराज रासो में थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में मिल जाते हैं। पुरातन प्रबंध संग्रह का संकलन 14वीं शताब्दी में हुआ था। अतएव इसमें संकलित छप्पय इसके पूर्व के होने चाहिए। इसी आधार पर मुनिजी का विचार है कि इससे प्रमाणित होता है कि चंदकवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिंदू सम्राट पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित एवं राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्ति-कलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृत भाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई। (पृथ्वीराज रासउ सं. डॉ. माता प्रसाद गुप्त पृ. 164 से उद्धृत)

इन चार छप्पयों के मिल जाने से यह निश्चित हो गया कि (1) 14वीं शती के पूर्व चंद नामक कोई कवि हुआ था। (2) उसने पृथ्वीराज चौहान पर काव्य रचा था और (3) वर्तमान रूप में प्राप्त रासो में चंद की रची हुई अनेक पंक्तियाँ थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में मौजूद हैं।

इस जानकारी से नया प्रश्न यह खड़ा हुआ कि वर्तमान रूप में प्राप्त रासो का मूल रूप क्या था, उसमें कितना प्रक्षेप किया गया है?

1.2.3 मूल पाठ

पृथ्वीराज रासो के चार पाठ मिलते हैं (1) बृहत् (2) बृहत्तम (3)लघु और (4) लघुतम। लघुतम लघु में, लघु, बृहत् में और बृहत् बृहत्तम में प्रायः अंतर्भुक्त है। रासो का मूल रूप क्या था, इस विषय पर विद्वानों ने पर्याप्त माथापच्ची की है।

आचार्य शुक्ल ने वर्तमान रूप में प्राप्त, अर्थात काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित पाठ को 'भट्ट भणंत' कहा था। उनके अनुसार "अधिक संभव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज या उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनों में से किसी के वंशज के यहाँ चंद नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो। पीछे जो बहुत सा कल्पित भट्ट-भणंत तैयार होता गया उन सबको लेकर और चंद को पृथ्वीराज का समसामयिक मान, उसी के नाम पर रासो नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गई हो।" (हिंदी साहित्य का इतिहास)

अर्थात चंद रहा भी हो तो पृथ्वीराज का परवर्ती है। उसकी पृथ्वीराजविषयक स्वल्प रचना में परवर्ती काल में बहुत कुछ जुड़ता गया है। मूलरूप स्वल्प था।

'रासो' में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि पूरा काव्य चंदवरदाई का लिखा हुआ नहीं है। जब गोरी पृथ्वीराज को बंदी बनाकर ले गया तब चंद भी वहीं पहुँचे। जाते समय उन्होंने रासो की प्रति अपने पुत्र जल्हण को सौंपी और कहा कि इसे पूरा करना:

पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप-काज

कविराज मोहनसिंह का विचार है कि रासोकार ने ही एक ऐसा संकेत दे दिया है जिससे हम रासो के मूल रूप का निश्चय कर सकते हैं। रासो में एक दोहा इस प्रकार है !

छंद प्रबंध कवित्त यति साटक गाह दुहत्थ।
लघु गुरू मंडित खंडियह पिंगल अमर भरत्थ।।

अर्थात कवित्त, साटक, गाहा, दोहा नामक छंद प्रबंध में हैं। यह प्रबंध खंड लघु गुरू से मंडित है और पिंगलाचार्य, संस्कृत काव्य एवं भरत के अनुसार छंदो का प्रयोग है। (देखिए, हिंदी साहित्य उद्भव और विकास - **पृथ्वीराज रासो**)।

निष्कर्ष यह कि मूल रासो में कवित्त, साटक, गाहा और दोहा - इन्हीं छंदों का उपयोग किया गया था। रासो के मूलरूप को निश्चित करने की पद्धति यह होनी चाहिए कि इन चारों छंदों में रचित पंक्तियों को रखकर बाकी छंदों को प्रक्षिप्त मान लिया जाए।

दिक्कत यह है कि इस बात को कैसे मान लिया जाए कि परवर्ती काव्य के प्रक्षेप इन चार छंदों में न किए गए होंगे। क्या प्रक्षेप करने वालों ने इन छंदों को छोड़कर प्रक्षेप किया होगा? संभवतः इसीलिए कविराज मोहनसिंह के इस विचार को मान्यता नहीं मिली।

1.2.4 साहित्यिक परम्परा

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने **पृथ्वीराज रासो** के मूल रूप का संधान आदिकाल की साहित्यिक परंपरा और काव्य एवं कथानक रूढ़ियों के आधार पर करने का रास्ता सुझाया है। उनका अनुमान है कि "रासो के वर्तमान रूप को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल रासो में भी शुक और शुकी के संवाद की योजना रही होगी। मेरा अनुमान है कि इस मामूली से इंगित को पकड़कर हम मूल रूपों के कुछ रूप का अंदाज़ा लगा सकते हैं।"

वर्तमान रूप में प्राप्त रासो में अनेक स्थलों पर शुक-शुकी संवाद से कथा का उपक्रम है। मध्यकालीन प्रबंध काव्यों में कथा का प्रारंभ प्रायः दो पात्रों के संवाद के माध्यम से किया जाता है। रासो में अनेक स्थलों पर शुक-शुकी संवाद की योजना है:

सुकी कहै सुक संभरौ कहौ कथापति प्रान
पृथु भोरा भीमंग पहु किये हुअ वैर वितान
जंपि सुकी सुक पेम करि आइ अंत जो वत्त
इंछिनि पिथ्यह व्याह विधि सुख्ख सुनंते गत्त
पुच्छ कथा सुक कहो समहं गंध्रवी सुप्तेमहि
स्रवन मंमि संजोगि राज सम धरी सुनेम्हि

(संक्षिप्त **पृथ्वीराज रासो**, सं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह)

मध्यकालीन प्रबंधकाव्यों में रचनाकार या वाचक बीच-बीच में स्वयं भी पात्र के रूप में सामने आते हैं मानस में शंकर-पार्वती, काकभुशुंडि आदि पात्र के रूप में भी आते हैं। रासो में शुक-शुकी कथा कहने सुनने की भूमिका निभाने के साथ-साथ पात्र रूप में भी प्रस्तुत होते हैं। "संयोगिता और पृथ्वीराज की

NMDC-064

प्रेम-कथा में पहले तो शुक 'नरभेष धरि साकार' पृथ्वीराज के पास चला जाता है। उधर दुजी '(शुकी) भी उड़कर संयोगिता के पास जाती है।"

पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लक्षित किया है कि शुक-शुकी संवाद के रूप में रासो का जो रूप प्रस्तुत होता है वह काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से भी उत्तम है। पृथ्वीराज के तीन विवाहों इंछिनी, शशिव्रता और संयोगिता की कथा की योजना शुक-शुकी के संवाद के माध्यम से ही की गई है।

पृथ्वीराज रासो के अद्यतन संपादक डॉ. माताप्रसाद गुप्त रासो के मूल रूप पर विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मूल रासो में उक्तिशृंखला और छंद शृंखला की पद्धति थी। उनका कहना है कि रासो के लघुतम पाठ में उक्ति और छंदों की यह शृंखला बहुत कुछ सुरक्षित है।

डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने रासो के सभी पाठों का तुलनात्मक विवेचन करके उसका पाठशोधन किया है। इस प्रक्रिया के दौरान उन्होंने पाया कि रासो के मूल रूप में उक्ति शृंखला एवं छन्द शृंखला का निर्वाह था। उक्ति शृंखला का तात्पर्य यह कि:

> "यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो यह दिखाई पड़ेगा कि धा. (धारणोज प्रति) में अनेक स्थलों पर एक रूपक में - प्रायः उसके अंत में जो उक्ति आई है उसकी कुछ न कुछ शब्दावली बाद वाले रूपक में- प्रायः उसके प्रारंभ में - भी है और इस प्रकार एक उक्ति शृंखला बनी हुई है।"
> (पृथ्वीराज रासो, भूमिका, डॉ. माताप्रसाद गुप्त)

जैसे एक छंद इस प्रकार है:

जो थिर रहै सु कहहुँ किन हू पूँछ तुम्ह सोइ

अगले छंद में 'थिर' शब्द मौजूद है।

थिरू बाले बल्लभ मिलन पु जउ जोवन दिन होइ

पूर्वापर छंदों में उक्तियों के समान प्रयोग को डॉ. गुप्त ने उक्ति-शृंखला कहा है।

डॉ. माता प्रसाद गुप्त के अनुसार यदि हम धा. (पाठ) के छंदों को लेकर पुनः ध्यान से देखें और विभिन्न पाठों का मिलान करें तो ज्ञात होगा कि अनेक छंद या रूपक एक ओर अविभक्त थे। किंतु बाद में उनको विभक्त कर बीच-बीच में नए छंद रख दिए गए, जिससे पूर्ववर्ती छंद शृंखला रचना में अनेक स्थलों पर त्रुटि हो गई।

डॉ. गुप्त ने पृथ्वीराजरासउ का जो संपादन किया है उसमें उक्ति और छंद शृंखला का ध्यान रखा है। उनके द्वारा संपादित पाठ लघुतम रूप के निकट है। इसमें कुल मिलाकर 12 खंड या शीर्षक हैं- मंगलाचरण, जयचंद का राजसूय यज्ञ और संयोगिता का प्रेमानुष्ठान, कयमास वध, पृथ्वीराज का कन्नौज गमन, पृथ्वीराज का कन्नौज में प्रकट होना, संयोगिता परिणय, पृथ्वीराज-जयचंद युद्ध (1) पृथ्वीराज जयचंद युद्ध (2) पृथ्वीराज संयोगिता का केलि विलास और षडऋतु, पृथ्वीराज का उद्बोधन, शहाबुद्दीन-पृथ्वीराज युद्ध और शहाबुद्दीन का अंत।

अब पृथ्वीराज रासो को पूर्णतः जाली, या भट्ट-भणन्त नहीं समझा जाता। जहाँ तक उसके मूल रूप का प्रश्न है आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी उसका निर्णय साहित्यिक परंपरा एवं काव्योत्कर्ष की दृष्टि से करना चाहते हैं और डॉ. माता प्रसाद गुप्त पाठालोचन की दृष्टि से।

1.3 पृथ्वीराज रासो की भाषा

रासो की भाषा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। पृथ्वीराज रासो की भाषा पर टिप्पणी करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है: "भाषा की कसौटी पर कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बेठिकाने है- उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं। दोहों की और कुछ-कुछ कवित्तों (छप्पयों) की भाषा तो ठिकाने की है, पर त्रोटक आदि छोटे छंदो में तो कहीं कहीं अनुस्वरान्त शब्दों की ऐसी मनमानी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत प्राकृत की नकल की है।" (हिंदी साहित्य का इतिहास)

लंदन की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में एक हस्तलिखित प्रति में लिखा है: चंदवरदायी लिखित पिंगल भाषा में 'पृथुराज का इतिहास'; गार्सा द तासी ने इसे कन्नौजी बोली का काव्य कहा। (वीरकाव्य,

लेखक डॉ. उदय नारायण तिवारी) डॉ. धीरेन्द्र वर्मा रासो की भाषा के व्याकरणिक ढाँचे को ब्रजभाषा का मानते हैं। (संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, डॉ. नामवर सिंह) डॉ. दशरथ शर्मा तथा मीनाराम रंगा इसे 'प्राचीन राजस्थानी ' मानते हैं। (उपर्युक्त से उद्धृत)

डॉ. नामवर सिंह का विचार है कि "वस्तुतः अपभ्रंश के बाद प्रायः पश्चिमी भारत में दो मुख्य भाषाएँ उत्पन्न हुईं - दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान में डिंगल तथा पूर्वी राजस्थान और ब्रजमंडल में पिंगल। काव्य-परंपरा की दृष्टि से डिंगल में रचना करने वाले प्रायः चारण हुए और पिंगल के कृती कवि प्रायः भाट। पृथ्वीराज रासो पूर्वी राजस्थान में मूलतः "चंदबलिद्द भट्ट" द्वारा अपभ्रंशोत्तर युग में रचा गया और अनेक प्रक्षेपों के साथ अपने विभिन्न रूपांतरों में भी वह पिंगल की रचना है। (संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो)

पश्चिमी भारत की किसी बोली पर आधारित भाषा मध्यदेश की परिनिष्ठित एवं काव्य भाषा रही है। प्राचीन ब्रजी, पूर्वी राजस्थानी कहने से यही बात प्रकट होती है। वस्तुतः पृथ्वीराज रासो मूलतः अपने रचना काल की परिनिष्ठित मध्यदेशीय काव्य भाषा में रचा गया होगा जिसका व्याकरणिक ढाँचा अनेक प्रक्षेपों के बावजूद अभी भी सुरक्षित है।

रासो की भाषा पर विचार करते समय स्वयं रासोकार की इस उक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती जिसके अनुसार उन्होंने अपनी काव्य भाषा को "षड्भाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया" कहा है।

यह "षड्भाषा" एक प्रकार की उक्ति-रूढ़ि है। लेकिन यह काव्य-भाषा-विषयक गुत्थी को सुलझाती भी है। बात यह है कि काव्य-भाषा का व्याकरणिक ढाँचा मूलतः तो किसी एक ही बोली या भाषा पर टिका होता है किंतु काव्य-भाषा (या परिनिष्ठित भाषा) में अनेक क्षेत्रों की शब्दावली समाहित होती है। बल्कि थोड़ा-बहुत व्याकरणिक रूप भी क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित हो सकता है। मध्यदेश की काव्य भाषा आजकल खड़ी बोली पर टिकी है किंतु उसमें अवधी, ब्रजी, भोजपुरी, राजस्थानी, पहाड़ी आदि बोलियों के शब्द भी समाहित हैं। यदि मैथिली क्षेत्र के कवि दिनकर खड़ी बोली में रचना करेंगे तो मैथिली का रंग आ जाना स्वाभाविक है, जैसे अज्ञेय की भाषा में पंजाबी या भवानीप्रसाद मिश्र की भाषा में मालवी। बिल्कुल यही स्थिति रासो की काव्यभाषा के विषय में भी समझना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने षड्भाषा की इस रूढ़ि पर प्रामाणिक तौर पर विचार किया है।

यद्यपि एक सामान्य साहित्यिक भाषा किसी प्रदेश विशेष के प्रयोगों तक ही सीमित नहीं रह सकती पर वह अपना ढांचा बराबर बनाए रहती है। इसी संदर्भ में उन्होंने भिखारीदास के 'काव्य निर्णय ' का निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया जो 'षड्भाषा ' का विश्लेषण करता है:

> ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि
> सहज फारसी हू मिलैं षड विधि कहत बखान

अर्थात ब्रजी, मागधी, (पूर्वी) अमर (संस्कृत), नाग (प्राकृत-अपभ्रंश), यवन (तुर्की) और फारसी सहज रूप से मिलती हैं यही षडविधि (षड्भाषा) कहलाती है।

कहने का तात्पर्य यह कि जब चंद में 'षडभाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया' कहा तो उनका तात्पर्य छः भाषाओं में काव्य रचना का नहीं था। उनकी काव्य भाषा में 'षड्भाषा' मिली है - मध्यदेश की काव्यभाषा में अनेक क्षेत्रीय शब्दों का समावेश था यह आशय है। 'पुरानं' संस्कृत और 'कुरानं' से आशय तुर्की, अरबी, फारसी से होना चाहिए।

रासो की भाषा आदिकालीन साहित्य की काव्यभाषा है। आदिकाल को संधिकाल कहा जाता है। उसकी काव्यभाषा में क्षीयमाण अपभ्रंश की भाषाई प्रवृत्तियों और उदीयमान आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का मेल है। अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ पूरी तरह समाप्त नहीं हुई हैं और आधुनिक भारतीय भाषाएँ पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं हुई हैं। किंतु रासो में पुरानी हिंदी का स्वरूप झलकने लगता है।

पुरानी हिंदी अपभ्रंश से मिलती-जुलती होने पर भी तीन प्रवृत्तियों के कारण अपभ्रंश से भिन्न एवं विशिष्ट हो जाती है। ये प्रवृत्तियाँ हैं - (1) क्षतिपूरक दीर्घीकरण (2) परसर्गों के प्रयोग की बहुलता और (3) तत्सम शब्दों का पुनर्प्रचलन- क्षतिपूरक दीर्घीकरण जैसे अज्ज का आज

उदाहरण - कलि मज्झिल जग्गु को करइ आज

परसर्गों के प्रयोग की बहुलता - एक ही पंक्ति में 'के' 'ते', 'से' का प्रयोग

उदाहरण - ससि के मुख तें अहि से निकसे।

NMDC-064

तत्समशब्दों का पुनर्प्रचलन : जैसे ब्रह्मांड
संकियं ब्रह्म ब्रहमांड गहियं

पृथ्वीराज रासो की भाषा में अपभ्रंश और पुरानी हिंदी दोनों की भाषाई प्रवृत्तियों का मेल है।

रासो में शब्दों का बहुविधि प्रयोग है - धर्म, धम्म भी हो सकता है और ध्रम्म भी । यह बहुत कुछ तो कवि की ओर से ली जाने वाली छूट है। इस छूट की भी परंपरा है। तुलसीदास जैसे कवि भी 'लसित लल्लाट ' पर लिखते हैं; कासी मग सुरसरि क्रमनासा (कर्मनाशा) । दूसरे, जैसा कि बीम्स ने अनुमान किया है यह भाषा की संक्रमणकालीन स्थिति का भी प्रभाव हो सकता है। अनुस्वार लगाकर शब्दों को छौंकने की प्रवृत्ति-पद झंकार के लिए है किन्तु इतनी अधिकता कभी खीझ और कभी मनोरंजन उत्पन्न करती है।

पृथ्वीराज रासो में छंदानुरोध से लघु को गुरू और गुरू को लघु बनाने की प्रवृत्ति है जैसे कमलनु को कमलानु और आहार को अहार। अनुस्वार की अधिकता की ही तरह व्यंजन को द्वित्व बनाने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है जैसे दिष्षियत, गज्जन। रूपगठन की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय बात लुप्त-विभक्तिक पदों का प्रयोग है - ले सब दासि सुजान (सभी सुजान दासियों को लेकर)। पृथ्वीराज रासो के शब्द-समूह में सर्वाधिक संख्या तद्भव शब्दों की है। इसके पश्चात् संस्कृत और फिर फारसी आदि के शब्दों की। कनवज्ज समय (लघुतम संस्करण) में कुल 3500 शब्दों का प्रयोग है। इसमें 500 शब्द तत्सम हैं 20 फ़ारसी के, शेष तद्भव हैं, कुछ देशी शब्द भी अवश्य होंगे।

रासो के भाषा विचार की समस्याएँ हैं। सबसे प्रमुख समस्या मान्य पाठ की है जिसे भाषा-विचार का आधार बनाया जाए। इसकी भाषा पर विचार करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि यह प्रबंध काव्य है और अपने युग के इतिहास का प्रतिनिधि काव्य है। इसमें विविध क्षेत्रों के पात्र हैं। उनकी चरित्रगत विशेषताएँ हैं। फिर भाषा की विविध स्तरीयता स्वाभाविक है। यह विविध स्तरीयता रासो के महत्व को बढ़ाती ही है, घटाती नहीं।

1.4 पृथ्वीराज रासो का काव्यरूप

हिंदी साहित्य के पाठकों के बीच **पृथ्वीराज रासो** को हिंदी का प्रथम महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है। हमारे यहाँ काव्य-भेद पर अधिकांशतः संस्कृत साहित्य को ध्यान में रखकर विचार हुआ है। रासो में महाकाव्य के सभी लक्षण घटित नहीं होते। उदाहरणार्थ रासो में छंदों का विधान संस्कृत महाकाव्य जैसा नहीं है। विभिन्न खंडों का विभाजन भी संख्या क्रम से नहीं घटनाओं के आधार पर शीर्षक में है जैसे "कनउज्ज समय" या "कैमास-वध"। वस्तुतः रासो की रचना संस्कृत के आचार्य काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों के अनुसार नहीं हुई है। काव्य-रूप की दृष्टि से रासो प्राकृत अपभ्रंश के प्रबंधकाव्यों की परंपरा में है, संस्कृत महाकाव्यों की परंपरा में नहीं।

पृथ्वीराज रासो में मध्यकाल में प्रचलित प्रबंध काव्यों के अनेक रूपों का सम्मिश्रण हुआ है। उसमें कथा काव्य, चरित काव्य, आख्यायिका आदि के लक्षण मिल जाएँगे। रासो तो वह है ही।

'कथा' की कहानी दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में प्रस्तुत की जाती थी। इस दृष्टि से रासो को कथा कह सकते हैं क्योंकि उसकी कहानी शुक-शुकी एवं कवि एवं कवि-पत्नी के संवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है। 'आख्यायिका' की कहानी का नायक कल्पित नहीं (ऐतिहासिक) होता है। संस्कृत में 'कादम्बरी' कथा मानी जाती है और 'हर्षचरित' आख्यायिका। यद्यपि 'हर्षचरित' चरित भी है। इस दृष्टि से **पृथ्वीराज रासो** को आख्यायिका भी कह सकते हैं क्योंकि नायक पृथ्वीराज कल्पित पात्र नहीं है और उसमें बाणभट्ट की भाँति चंद का भी वर्णन है। रासो चरितकाव्य भी है क्योंकि उसमें पृथ्वीराज का जीवन-चरित वर्णित है।

1.4.1 रासो काव्य

पृथ्वीराज रासो, रासो काव्य के रूप में विख्यात है। यहाँ हमें रासो काव्य के विषय में थोड़ी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। उससे **पृथ्वीराज रासो** के काव्य रूप का निर्णय करने में सहायता मिलेगी।

रासो, रासा, रास, रासउ समानार्थक शब्द हैं। इनका विकास रास नामक नृत्य से हुआ है। रास मूलतः वन्य नृत्य था। **हर्ष चरित** में रास का उल्लेख नृत्य और गान दोनों रूपों में हुआ है। अपभ्रंश के महान कवि स्वयंभु ने रास छंद का लक्षण दिया है। सो, रास नृत्य है, गान है और छंद भी। गान शब्दों से बनता है। एक बार शब्दों का आगमन हुआ तो कथा का समावेश हो गया और रास प्रबंध काव्य भी बन गया होगा। रास नृत्य से कृष्ण की रासलीला का संबंध है।

रास काव्यों की परंपरा अपभ्रंश से ही शुरू हो जाती है। मेरी जानकारी में प्राकृत भाषा में कोई रास काव्य नहीं मिलता। अपभ्रंश में **नेमिनाथ रासो, भरतेश्वर बाहुबलिरास, कछूलीरास** आदि मिलते हैं। प्रबंध काव्य हो जाने के बाद रास किसी एक ही विषय तक सीमित नहीं रह गया। यद्यपि यह सत्य है कि **11वीं शताब्दी** से अपभ्रंश में रासोकाव्य की जो परम्परा प्रारंभ होती है उसमें जैन मतावलम्बी काव्य ही अधिक मिलते हैं। किंतु कालांतर में **रासो** ऐसा प्रबंध काव्य बन गया जो केवल धर्म या जैन धर्म तक ही सीमित नहीं रह गया। धार्मिक **रासो** के साथ-साथ, ऐतिहासिक, वीरतापरक, शृंगारी रासक काव्य भी लिखे गए। **पृथ्वीराज रासो** ऐतिहासिक एवं वीरतापरक **रासो** काव्य है।

आचार्य हेमचंद्र के शब्दानुशासन में रासक को गेय उपरूपक बताया गया है। "ये गेय रूपक तीन प्रकार के होते थे - मसृण अर्थात कोमल, उद्धत और मिश्र। रासक मिश्र गेय उपरूपक है। टीका में इन गेय उपरूपकों के संबंध में बताया गया है कि इनमें से कुछ तो स्पष्ट रूप से कोमल हैं, जैसे डोम्बिका। कुछ दूसरे हैं जो स्पष्ट रूप से उद्धत गेय रूपक हैं, जैसे भाणक। कुछ ऐसे हैं जिनमें मसृण की प्रधानता होती है, कुछ उद्धत भी मिल जाता है; कुछ में उद्धत कम मिला होता है, जैसे प्रस्थान; कुछ में अधिक मिला होता है जैसे शिंगटक। परंतु ऐसे भी कई हैं जिनका प्रधान रूप तो उद्धत होता है फिर भी थोड़ा बहुत मसृण का प्रवेश हो जाता है। भाणिका ऐसा ही है। फिर प्रेरण, रामाक्रीड़, रासक हल्लीसक आदि ऐसे ही रूपक हैं। सो रासक आरंभ में एक प्रकार के उद्धत प्रयोग प्रधान गेय रूपक को कहते थे जिसमें थोड़ा बहुत मसृण या कोमल प्रयोग भी मिले होते थे" (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली 3)।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने **संदेशरासक** और **पृथ्वीराज रासो** के प्रारंभिक अंशों की समानता दिखाकर प्रकट किया है कि **पृथ्वीराज रासो** और **संदेशरासक** दोनों में रासक काव्य रूप के लक्षण मिलते हैं।

जो हो हिंदी साहित्य में **रासो** काव्यों की दीर्घ परंपरा मिलती है। डॉ. दशरथ ओझा ने अपने ग्रंथ 'हिंदी नाटकःउद्भव और विकास' में रासक काव्यों की चर्चा के प्रसंग में बताया है कि लगभग 1000 रासक काव्य मिलते हैं और इनकी रचना 19वीं शताब्दी तक हुई है।

1.4.2 कथानक रूढ़ियाँ

पृथ्वीराज रासो रासक काव्य परंपरा का सर्वाधिक विख्यात काव्य है। **पृथ्वीराज रासो** में मध्यकालीन प्रबंध काव्यों में प्रचलित अनेक कथानक रूढ़ियों का उपयोग किया गया है। कथानक-रूढ़ियों से अभिप्राय ऐसे घटना प्रसंगों से है जो कथानक को आगे बढ़ाने के लिए मध्यकालीन प्रबंध काव्यों में प्रायः इस्तेमाल किए जाते हैं। ऐसे घटना-प्रसंग एक प्रकार से इन प्रबंध रचनाओं में रूढ़ि की तरह प्रयुक्त होते हैं अतएव इन्हें कथानक रूढ़ि कहा जाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन कथानक रूढ़ियों पर 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' में सम्यक् विचार किया है। आचार्य द्विवेदी ने जिन कथानक रूढ़ियों की सूची दी है उनमें कुछ इस प्रकार है-

1. कहानी कहने वाला सुग्गा
2. स्वप्न में प्रियदर्शन, चित्र-दर्शन, कीर्ति श्रवण से अनुराग
3. मुनि का शाप
4. रूप परिवर्तन
5. परकाय प्रवेश
6. आकाशवाणी
7. षड्ऋतु-बारहमासा
8. हंस-कपोत से संदेश कथन आदि।

रासो में - कहानी कहने वाला सुग्गा, गुण-श्रवण से अनुराग, रूप-परिवर्तन, षड्ऋतु वर्णन आदि तो हैं ही इनके अतिरिक्त, सेना-वर्णन, युद्ध वर्णन, नख-शिख वर्णन, कन्या हरण, वयस्संधि वर्णन आदि

NMDC-064

कथानक रूढ़ियों का भी उपयोग किया गया है। कथानक रूढ़ियों के उपयोग की दृष्टि से **पृथ्वीराज रासो** एक भरपूर काव्य है।

1.4.3 चरित काव्य

अब तक हमने देखा कि **पृथ्वीराज रासो** आदिकाल की ऐसी रचना है जो मूलतः रासो काव्य है किंतु उसमें कथा, चरित, आख्यायिका आदि काव्य रूपों का भी समावेश है जिसमें कथानक रूढ़ियों का भरपूर उपयोग किया गया है।

डॉ. नित्यानंद तिवारी ने अपनी पुस्तक 'मध्यकालीन रोमांचक आख्यान' में दिखाया है कि **पृथ्वीराज रासो** रोमांचक आख्यान है। उसमें कथानक तो है किंतु उसमें आंतरिक गठन नहीं, उसमें अनेक परस्पर असंबद्ध कथाओं का संकलन और विस्तार है। कथाओं, घटनाओं का विकास आंतरिक घात-प्रतिघात से नहीं है, उनमें जोड़ और गांठें हैं। जोर कथनात्मकता या कहते जाने की की प्रवृत्ति पर है। चरित्र तो हैं किंतु इनकी चरित्रगत वैयक्तिक विशेषताएँ प्रायः नहीं हैं। संभवतः इसीलिए कथा के विकास के लिए कथानक रूढ़ियों की आवश्यकता पड़ती है। इन रोमांचक आख्यानों का कोई ऐतिहासिक उद्देश्य भी नहीं है। उद्देश्य होता तो इनका कथानक उद्देश्य की अंतस्सूत्रता से बंधा होता। डॉ. नित्यानंद तिवारी **पृथ्वीराज रासो** को 'पंवारा' मानते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि **रासो** की घटना-सरणि में, पृथ्वीराज के अनेक विवाहों और युद्धों में कोई तार्किक प्रवाह या अंतस्सूत्रता नहीं है। दो-चार विवाह और युद्ध **रासो** में और जोड़ दिए जाएँ या निकाल दिए जाएँ तो **रासो** के रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

इस सबके बावजूद, हिंदी साहित्य में **रासो** की प्रतिष्ठा महाकाव्य के रूप में है। वह हिंदी साहित्य के आदिकाल का ही सर्वाधिक विख्यात काव्य नहीं, हिंदी साहित्य के प्रथम महाकाव्य के रूप में भी प्रतिष्ठित है। हमें उन कारणों की भी पड़ताल करनी चाहिए जिनके आधार पर **पृथ्वीराज रासो** को यह प्रतिष्ठा मिली।

डॉ. नगेन्द्र कामायनी के महाकाव्यत्व पर विचार करते हुए, पाश्चात्य एवं पौरस्त्य महाकाव्यों के लक्षणों का विवेचन करने के उपरांत इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि महाकाव्यत्व का प्राण औदात्य है। (देखिए कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ) । औदात्य का आधार व्यापक संघर्ष है। भारतीय महाकाव्यों का आदर्श वाल्मीकि रामायण है और राम का आजीवन संघर्ष उसके औदात्य का आधार है। वे लोक विख्यात हैं। उनकी जीवन-कथा ही ऐसी है कि विपुल जीवन-जगत् का समावेश उनके जीवन में हो जाता है। ध्यान से देखें तो महाकाव्यों के लक्षण इस बात को ही ध्यान में रखकर निर्धारित किए गए हैं कि नायक लोक में कितना प्रतिष्ठित है, लोक से उसके जीवन-संघर्ष का कैसा संबंध है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यापकता एवं संघर्ष औदात्य के आधार हैं। आठ या उससे अधिक सर्गों की व्यवस्था कथा की विपुलता का लक्षण है तो एक सर्ग में एक ही छंद की व्यवस्था दूर तक कथा प्रवाह की समतल भूमि निर्धारित करती है। सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन एक सर्ग की कथा को अगले सर्ग की कथा से जोड़ने का संकेत है।

मध्यकाल में ऐसे प्रबंधकाव्य भी लिखे गए हैं जिनमें कदम-कदम पर छंद परिवर्तित होते हैं। केशवदास की **रामचन्द्रिका**, विद्यापति की **कीर्तिलता** ऐसे ही काव्य हैं। आदिकाल के ही अपभ्रंश काव्य **संदेश रासक** में भी जल्दी-जल्दी छंद परिवर्तन मिलता है। **पृथ्वीराज रासो** भी इस दृष्टि से इन्हीं रचनाओं की कोटि में आता है।

1.5 सारांश

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिता अप्रामाणिता से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के क्रम में आपने महसूस किया होगा कि इस काव्य ग्रंथ मानकर चलना ही उचित है। किसी भी दृष्टि से यह इतिहास ग्रंथ नहीं है। परंतु इसमें कोई शक नहीं कि चंदवरदाई पृथ्वीराज के समकालीन थे और उन्होंने पृथ्वीराज रासो नामक चरित्र काव्य की रचना की

यह भी स्मरण रखने की बात है कि विद्वानों ने इसके लघुतम पाठ को ही मूल पाठ माना है। प्रश्न यह है कि जो काव्य मूलतः लघु काव्य था और जिसे पंवारा कहा जाता है वह इतना बृहत् एवं महाकाव्य कैसे बन गया। आदिकाल की अन्य रचनाओं को पीछे धकेल कर सर्वाधिक विख्यात कैसे हो गया।

उत्तर संभवतः साहित्य से अधिक उत्तरी भारत के राजनीतिक घटना-चक्र अर्थात इतिहास में है। निस्संदेह साहित्यिक दृष्टि से पृथ्वीराज रासो उत्कृष्ट रचना है और चंदवरदाई सरस्वती के वरद-पुत्र हैं। किंतु इस रचना को इतिहास चक्र ने जो महत्त्व प्रदान किया उसका इसे महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित करने में बहुत बड़ा योगदान है।

पृथ्वीराज चौहान दिल्ली के सिहांसन पर विराजमान होने वाले अंतिम हिंदू शासक थे। उनका जीवन अपने-आप में चाहे ज़ितना सामान्य रहा हो, उत्तरी भारत के इतिहास में मुहम्मद गोरी के हाथों उनकी पराजय और उनका वध युगांत का प्रतीक बन गया। कन्या हरण और युद्ध आदिकालीन वीर गाथात्मक रचनाओं का प्रिय विषय है किंतु उन सभी रचनाओं के नायक पृथ्वीराज चौहान की तरह युगांत के प्रतीक-नायक नहीं बने। उत्तरी भारत की जनता के मन में ऐतिहासिक कारणों से अपने अंतिम शासक के लिए एक ललक बनी रही। इसके बाद दिल्ली के सिंहासन पर आक्रामक या उनकी संतानें बैठीं। इस ऐतिहासिक ललक ने पृथ्वीराज चौहान के जीवन को अभूतपूर्व ख्याति प्रदान की। वे जन समाज में व्याप्त होने वाली किम्वदंतियों, निजंधरी कथाओं के विषय बने, नायक बने। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कथानक रूढ़ियों पर विचार करते हुए 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' में बताया है कि तथ्य की अपेक्षा संभावना पर अधिक बल देने से कवि नायक को निजंधरी (लेजेंडरी) बना देते हैं। यह मनोवृत्ति वस्तुतः भारतीय जन-मानस की है जो अपने नायक को आत्यन्तिकता प्रदान करता है। निरंतर प्रक्षेप इसी का परिणाम है। लोग वीरनायक को विविध रूपों में देखना चाहते हैं, उनके जीवन में संभावनाओं को अधिक से अधिक फलीभूत होते देखना चाहते हैं। पृथ्वीराज रासो जितना अधिक प्रक्षेप हिंदी की किसी अन्य रचना में नहीं हुआ है। इसे प्रसिद्धि का मूल्य चुकाना कह सकते हैं। लोक विख्यात शौर्य गाथाओं, रोमांचक गाथाओं के विषय में ऐसी जनश्रुतियों की व्यापकता स्वाभाविक है। हमारे स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों के विषय में भी ऐसी किम्वदंतियाँ जन-प्रचलित थीं। इसी प्रवृत्ति का काव्य-फलन रासो का महाकाव्य है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में वह लोकचित्त की चंचल सवारी करता हुआ विकासशील महाकाव्य बना। हिंदी का दूसरा विकसनशील महाकाव्य परमाल रासो या आल्हा होता अगर वह लिखित रूप में प्राप्त होता।

नायक का महत्व युगांतरकारी हो गया और लोकप्रियता के कारण प्रक्षेप होता गया तो रचना को भी महाकाव्यात्मक गरिमा प्राप्त हुई। वह अपने युग एवं युग नायक की गाथा बनकर जातीय अथवा राष्ट्रीय इतिहास की प्रबल रचना बन गई। अगली इकाई (इकाई सं.-२) में इसकी विस्तार से चर्चा की जाएगी।

इस प्रकार जो रासो काव्य चरित, कथा, आख्यायिका आदि के लक्षणों से युक्त एक पंवारा मात्र था वह ऐतिहासिक घटना चक्र से विकासशील प्रबंधकाव्य तो बना ही, महाकाव्यात्मक औदात्य एवं गरिमा से मंडित होकर आदिकाल का सर्वाधिक प्रसिद्ध और हिंदी साहित्य का प्रथम महाकाव्य कहलाने का अधिकारी बना।

1.6 प्रश्न/अभ्यास

1. पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिता से जुड़े विभिन्न मुद्दों का विश्लेषण कीजिए।
2. पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढ़ियों का उपयोग किस प्रकार किया गया है?
3. क्या पृथ्वीराज रासो की भाषा अपने रचनाकाल से मेल खाती है? विभिन्न मतों के आलोक में इस पर विचार कीजिए।
4. पृथ्वीराज रासो की लोकप्रियता में साहित्यिक और साहित्येतर परम्पराओं के योगदान को रेखांकित कीजिए।

NMDC-064

इकाई 2 पृथ्वीराज रासो का काव्यत्व

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 विषय वस्तु

2.2.1 कथानक

2.2.2 युद्ध और शृंगार

2.2.3 पात्र चित्रण

2.2.4 प्रकृति वर्णन

2.3 काव्य कौशल

2.3.1 छंद

2.3.2 अनुनासिकता

2.3.3 ध्वनि प्रवाह

2.4 सारांश

2.5 अभ्यास/प्रश्न

2.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता, भाषा और काव्य रूप पर विचार किया जा चुका है। इस इकाई में **पृथ्वीराज रासो** के काव्यत्व पर विचार किया जा रहा है। इसे पढ़ने के बाद आपः

- **पृथ्वीराज रासो** की विषय वस्तु का मूल्यांकन कर सकेंगे
- रासोकार कवि चंद के काव्य कौशल का विवेचन कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता से जुड़े सवालों पर विचार विमर्श किया था। इस संदर्भ में पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता, रचनाकार, मूल पाठ, भाषा, काव्य रूप आदि पक्षों को आप समझ चुके होंगे।

जैसा कि आप जानते हैं पृथ्वीराज रासो के अनेक संस्करण प्राप्त होते हैं। यहाँ रासो के काव्य–सौंदर्य पर विचार करते समय दो पाठों को आधार बनाया जा रहा है- हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा शुक-शुकी संवाद को ध्यान में रखकर निर्धारित पाठ तथा माता प्रसाद गुप्त द्वारा उक्ति-शृंखला एवं छंद-शृंखला के आधार पर निर्णीत पाठ।

इस इकाई में हमने सबसे पहले आपका परिचय पृथ्वीराज रासो की विषय वस्तु से कराया है। कथानक का परिचय देते हुए साथ-साथ उसका मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया गया है। कथा विस्तार से प्रस्तुत नहीं की गई है संक्षेप में उसका उल्लेख कर दिया गया है। यदि आप पृथ्वीराज रासो की कथा और विस्तार से पढ़ना चाहते हैं तो आप डॉ. नामवर सिंह की पुस्तक "पृथ्वीराज रासो भाषा और साहित्य" परिशिष्ट पढ़िए। इस पुस्तक की पूरी जानकारी खंड के अंत में दी गई पुस्तकों की सूची में मिल जाएगी।

कथानक के अंतर्गत हमने 'कैमास वध' और 'कनवज्ज समय' का विशेष रूप से उल्लेख किया है और उनकी विशेषताओं की चर्चा की है। मार्मिकता की दृष्टि से कैमास वध प्रसंग महत्वपूर्ण है। कैमास प्रसंग को प्रामाणिक अंश भी माना जाता है क्योंकि इसी प्रसंग के छप्पय पुरातन प्रबंध संग्रह में प्राप्त हुए हैं।

'कनवज्ज समय' रासो का एक महत्वपूर्ण अंश है। इसमें जयचंद की कन्नौज यात्रा और संयोगिता के अपहरण की कथा आई है। इस प्रसंग में कवि ने शृंगार, युद्ध और यहाँ तक कि प्रकृति वर्णन का भी अवसर निकाल लिया है। 'कनवज्ज समय' को पाठ में भी शामिल किया गया है।

पृथ्वीराज रासो के शिल्प पर विचार न किया जाए तो बात अधूरी रह जाएगी। चंद को छंद का राजा कहा गया है। उन्होंने कविता में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश से चली आती छंद परंपरा को नई चाल में ढाला और हिंदी में छंद-संगीत का सूत्रपात किया। उनकी कविता में अनुनासिकता, ध्वनि-प्रवाह, लय सब मिलकर संगीत का निर्माण करते हैं। उनका अभिव्यक्ति कौशल अनूठा है।

आइए, इन पक्षों पर विस्तार से बातचीत की जाए।

2.2 विषय वस्तु

पृथ्वीराज रासो के काव्य-सौंदर्य पर विचार करने के लिए हमें एकाधिक पाठों को आधार बनाना पड़ेगा। **रासो** के मूल रूप पर विचार करते समय हमने दो पाठों का विशेष रूप से उल्लेख किया था - पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा शुक-शुकी के संवाद को ध्यान में रखकर निर्धारित पाठ और डॉ. माता प्रसाद गुप्त द्वारा उक्ति-शृंखला एवं छंद-शृंखला के आधार पर निर्णीत पाठ।

इसके बावजूद **पृथ्वीराज रासो** में जो प्रसंग सामान्य रूप से मिलते हैं वे इस प्रकार हैं :

1. आदि पर्व
2. दिल्ली किल्ली कथा
3. अनंगपाल दिल्ली दान
4. पंग यज्ञ विध्वंस
5. संयोगिता नेम आचरण
6. कैमास वध
7. षटऋतु वर्णन
8. कनवज्ज समय
9. बड़ी लड़ाई
10. बान बंध

इस इकाई में हम 'कैमास वध' और 'कनवज्ज समय' पर विशेष रूप से विचार करेंगे।
पृथ्वीराज रासो एक चरित काव्य है जिसका नायक पृथ्वीराज चौहान है। **पृथ्वीराज रासो** में अधिकांशतः पृथ्वीराज के विभिन्न विवाहों एवं युद्धों की ही कथा है। **आदि पर्व** में पृथ्वीराज के पूर्वजों, पृथ्वीराज के जन्म, बाल-लीला आदि का वर्णन है। **रासो** के अंतिम अंश में पृथ्वीराज द्वारा गोरी का, शब्दबेधी बाण द्वारा वध का वर्णन है। साथ ही पृथ्वीराज की भी मृत्यु हो गई।

2.2.1 कथानक

रासो का कथानक मध्यकाल में प्रचलित अनेक कथानक रूढ़ियों एवं काव्य रूढ़ियों से कसा हुआ है। कवि परंपरा से सुपरिचित है, उसका पालन करना और मौलिक उद्‌भावना द्वारा विकास करने की प्रतिभा से सम्पन्न है।

मध्यकालीन प्रबंध काव्यों के पात्र प्रायः सांचे में ढले होते हैं। वे अच्छे हैं तो अच्छे, बुरे हैं तो बुरे। इस स्थिति में रासोकार का चरित्र-चित्रण सुखद आश्चर्य का विषय है। पृथ्वीराज कोई सांचे-ढला पात्र नहीं, वह अच्छाइयों एवं कमजोरियों का पुंज है। आज की भाषा में कहें तो पृथ्वीराज यथार्थवादी पात्र है - बहुत दूर तक। निस्संदेह उसके चरित्र-निम।ण पर मध्यकालीन प्रबंध काव्यों के आदर्शवाद की भी छाप है।

पृथ्वीराज क्षत्रिय, सामन्त, वीर, रसिक, विलासी, दृढ़ प्रतिज्ञ, शरणागत-वत्सल और चन्द का अभिन्न मित्र है। उसे अपने गुणों एवं दुर्गुणों का फल इसी जीवन में मिल जाता है।

रासो में वर्णित घटनाओं की ऐतिहासिकता के विषय में चाहे जितना मतभेद हो, घटनाओं के उपस्थापन का शिल्प यथार्थ-परक है, कारण यह कि उस पृथ्वीराज के मन का द्वंद्व छिपाया नहीं गया है। उसे प्रकट कर दिया गया है। **रासो** के **आदि पर्व** में एक ऐसी घटना का वर्णन है जो पृथ्वीराज कालीन सामंती मूल्यों का मनोरंजक दस्तावेज मालूम पड़ता है। पृथ्वीराज के परक्रमी चाचा कन्ह थे

चालुक्यवंशी सात भाई पृथ्वीराज के दरबार में बैठे थे। पृथ्वीराज की उन पर कृपा थी। एक दिन भरे दरबार में उनमें से एक भाई प्रतापसी ने मूंछों पर हाथ फेर दियाः

परताप सि मुच्छन पान

यानी मूंछों पर ताव दे दिया। अपनी मूंछे ऐठ ली। उनका यह करना था कि कन्ह चाचा ने उसे मौत के घाट उतार दिया। उसे ही नहीं उसके भाइयों को भी। पृथ्वीराज धर्म-संकट में पड़ गए। जिसकी रक्षा का भार लिया था उन्हीं का वध किया गया। यह किसी और ने किया होता तो पृथ्वीराज उसे प्राण दंड देते। लेकिन कन्ह चाचा का क्या किया जाए। अंततोगत्वा विधान हुआ कि कन्ह चाचा की आंखों पर रत्न स्वर्णादि की पट्टी बांध दी गई। आंखों से पट्टी केवल दो अवसरों पर उतारी जाए - युद्ध क्षेत्र में और शय्या पर :

सो पट्टी निसि दिन रहै छोरि देइ द्वै ठाय
कै सिज्जा बामा रमत कै छुट्ट संग्राम

कवि ने पृथ्वीराज के चरित्र का जो चित्रण किया है वह उतना आदर्श-कल्पित नहीं है जितना कि यथार्थ परक। चन्द द्वारा पृथ्वीराज के चरित्र का चित्रण देखें तो वह सचमुच किसी निर्भीक सरस्वती के वरद-पुत्र का वर्णन प्रतीत होता है। यह भी कि चंद पृथ्वीराज का सच्चा मित्र एवं शुभ चिंतक है। इससे पृथ्वीराज के साथ-साथ चंदवरदाई के भी चरित्र का चित्रण हो गया है। दोनों मित्रों की मैत्री-परीक्षा का सबसे मार्मिक अवसर कैमास-वध में उपस्थित होता है। ध्यान देने की बात है कि कैमास-वध **पृथ्वीराज रासो** का सर्वाधिक प्रामाणिक अंश है। इसी प्रसंग के छप्पय पुरातन-प्रबंध-संग्रह में प्राप्त हुए हैं, यह हम **रासो** की प्रामाणिकता पर विचार करते समय देख चुके हैं।

कैमास (संस्कृत नाम कदम्बवास) पृथ्वीराज का प्रधानामात्य और सर्वाधिक विश्वस्त मंत्री था। पृथ्वीराज के बचपन में उनकी माँ ने उसी की देख-रेख में राजकाज चलाया था। पृथ्वीराज संयोगिता के विरह में स्थिर नहीं था। वह आखेट करता हुआ वन में घूम रहा था। शासन उसने कैमास को सौंप दिया था।

तिहि तप आखेटक भभइ थिर न रहइ चहुवान
वर प्रधान जुग्गुनि प्ररह घर रख्खइ परवान

इधर कैमास की बुद्धि धर्म-क्षीण हो गई। जो राजा की प्रतिमा (प्रतिनिधि) है उसका मन रमणियों में रम गया। उसके हाथ में तीर नहीं - वह वासना में शय्या गति को प्राप्त होने लगा।

राजं जा प्रतिभा सचीन धर्मा रामा रमे सा मतीन
नितीरे कर काम वाम बसना संगेन सिज्जा गतिः

कैमास कर्णाटी नाम की दासी पर अनुरक्त था। रात्रि में वह उसके महल में विहार कर रहा था। पृथ्वीराज को यह समाचार उनकी बड़ी रानी इंछिनी ने भिजवाया। पृथ्वीराज ने रात में ही आकर कैमास की हत्या कर दी। प्रातः भरे दरबार में अनजान बन कर पूछा - कैमास कहाँ है? किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। पृथ्वीराज ने चन्दवरदाई से पूछा। चन्दवरदाई ने उत्तर दिया - मैं पाताल और आकाश के बीच का सब रहस्य बता सकता हूँ। किंतु दाहिम (कैमास) दुर्लभ हो गया है, मुझसे कहा नहीं जाता। पृथ्वीराज ने चंद से कहा - तुम क्या आकाश-पाताल की बातें कर रहे हो यह तो बताओ कि कैमास कहाँ है या मुझे हरसिद्धि (देवी) का वर प्राप्त है यह कहना छोड़ दो। निकम्मे कवि काव्य रचना बंद कर दो-

कहा भजुंग कहा उदै सुर निकमु कव्व कवि षंडु
कै कैमास बताइ मोहि कइ हरसिद्धी बर छंडु।

चंद ने सोचा पृथ्वीराज साँप के मुंह में उंगुली डाल रहा है अब मुझे सच बताना ही पडेगा। चंदवरदाई को स्वप्न में सरस्वती ने आकर सब बता दिया था। चंद की काव्यधारा प्रवाहित हा उठी-

एकु बान पुहुमी नरेस कयमासह मुक्कउ
उर उप्परि षर हरि उबीर कष्वन्तर चुक्कउ
बीउ बान संधानि हनउ सोमेसुर नंदन
गाडउ करि निग्गहउ षनिव खोदउ संभरि धनि
थर छंडि न जाइ अभाग रउ गारइ गहउ जु गुन षरउ
इमे जपइ चंद बिरद्दआ सु कहो निमद्दि हि इह प्रलउ।

चंद ने कैमास-वध का अन्तर्बाह्य विवरण देते हुए बताया - पृथ्वी नरेश तुमने एक बाण कैमास को मारा। वह उसके वक्ष पर खरहराता हुआ काँख से चूक गया (निकल गया) दूसरे बाण का संधान करके तुमने उसे मार डाला। शाकम्भरी नरेश पृथ्वीराज तुमने खन खोद कर गड्ढे में उसे डाल दिया। अब उस अभागे से वह थल छोड़ा नहीं जा रहा। उसे गुण रूपी पाषाण ने दृढ़ता से पकड़ रखा है। चंदवरदाई कहता है कि यह प्रलय कहाँ निपटेगा। तुम्हारे इस अकार्य का क्या फल होगा?

मध्यकालीन सामन्त निरंकुश होता था। पृथ्वीराज के एक इशारे पर चंद का क्या हो सकता था - यह सोचिए, तब अनुमान किया जा सकता है कि चंदवरदाई कितने निर्भीक सरस्वती-पुत्र थे। वे कवि की मर्यादा का निर्वाह कर सकते थे। चंदवरदाई का उत्तर सुनकर सभा में खलबली मच गई। अपने कानों से चंद का बयान सुनकर सभासद अपने घर भाग गए। पृथ्वीराज को रात भर नींद नहीं आयी। चंदवरदाई ने उस समय की सभा का जो वर्णन किया है वह मध्यकाल में दुर्लभ है। यथार्थपरकता और चंद की निर्भीकता दोनों का प्रमाण इस वर्णन में है-

राज-सभा में सम्भ्रम हुआ। उसे शांत करने के लिए प्रधान दरबान ने प्रवेश किया। सभी सामन्तों के सिर पर मानो लाठी लगी। केवल चंद बरद्दआ स्थिर रहा। वह विमुख नहीं हुआ। मुख नहीं मोड़ा, पैर नहीं सरकाया। मुख क्रोध से यूं सूख रहा था मानों ग्रीष्म में सूर्य के तेज से जल रात के पति के जगते (चन्द्रमा के अस्त होने के पूर्व) घर-घर में यह बात फैल गई कि दाहिम (कैमास) को ऐसा दोष लगा है कि कलंक नहीं मिटेगा।

राजमज्झि संभयउ पट्ट दरबान परदि्ठ
बहुर सब्ब सामंत मनउ लग्गिय सिर लटि्ठय
रहयउ चंद बिरदिया विमुष मुख पग न सरक्यउ
गिम्ह तेज बर भट्ट रोस जल षिनि षिनि सुक्यउ
रत्तिरी कंत जग्गंत रइ चली घर घ्घरि बत्तरी
देहिमउ दोस लग्यउ षरउ मिटइ न कलि सु उत्तरी

चंद की निर्भीकता एवं चारित्र्य-दृढ़ता का प्रमाण रासो में तब मिलता है जब कैमास की पत्नी को वचन देकर वे पृथ्वीराज से कैमास का शव उसे देने को कहते हैं। कैमास की पत्नी सती होना चाहती थी और कैमास का शव केवल पृथ्वीराज ही उसे दे सकते थे। चंदवरदाई कुपित पृथ्वीराज के दरबार में पहुँचे। बोले- पृथ्वीराज! तुम्हारी कीर्ति के कमल को कैमास वध ने कवलित कर लिया है। तुम उसका शव दे दो। इसके बाद चंदवरदाई ने जो कुछ कहा वह द्रष्टव्य है-

रावण ने भी पराई स्त्री का हरण किया था। क्रुद्ध राम ने उसे बाण से मारा (किंतु उसका शव नहीं छिपाया था) इसी प्रकार बाली का सुग्रीव ने प्राण लिया। चंद्रमा ने गुरु पत्नी से रमण किया किंतु उसके शव को पृथ्वी में किसने गाड़ा। पांडु ने सूर्य को नहीं गाड़ा (कुंती के साथ रमण करने के अपराध में) सहदेव से पूछ लो। गौतम ने इन्द्र को नहीं गाड़ा। हाँ शाप अवश्य दिया। इस दोष पर इतना रोष करना (अनुचित) है। सुनो सामरधनी। (कैमास को) मत गाड़ो।

रावन किनि गड्डियउ क्रोध रघुराय बान दिनि
बालि किनि गड्डियउ सुत सुग्रीव जीव लिय
चंद किनि गड्डियउ कीय गुरुदार सो किल्लउ
रवि न पंउ गड्डियउ पुच्छ सहदेव पहिल्लउ
गड्डियउ न इंदु गोतम रिषी बल सराप छंडिय जिनी
इह रोस दोस पृथिराज सुन मम गड्डिय सम्भर धनी

अन्ततोगत्वा पृथ्वीराज ने कैमास का शव कैमास की पत्नी को सौंप दिया। वह सती हुई। इस मनमुटाव के बाद पृथ्वीराज और चंदवरदाई गले मिले। इस मित्र-मिलन का जैसा मार्मिक चित्रण कवि ने किया है वह अनुपम है।

दोइ कंठ लग्गिय गहन नयनह जल गल न्हान
(दोनों गहन भाव से कंठ लगे। नयनों के जल से भीग कर स्नान किया)

पृथ्वीराज की वीरता का चित्रण प्रायः युद्ध के प्रत्येक प्रसंग में हुआ है। पृथ्वीराज की वीरता सामंती नैतिकता से पुष्ट है। संयोगिता विवाह के अवसर पर कनउज्ज-युद्ध में विश्वस्त सेनापतियों ने पृथ्वीराज को संयोगिता सहित दिल्ली पहुँच जाने की राय दी। पृथ्वीराज जैसा शूरवीर इसे सहन नहीं कर सका। उसने अपने सेनापतियों को उत्तर दिया-

NMDC-064

मुझे मरण का भय दिखा रहे हो। तुम्हारी बुद्धि नष्ट हो गई है। तुम जो मुझे मृत्यु का भय दिखा रहे हो क्या वह यम की चिट्ठी के बिना संभव है। तुमने भीम को हराया इसी का तुम्हें गर्व हो गया है। मैंने, शहाबुद्दीन गोरी जैसे को हराया है। हिंदू और तुरूक दोनों मेरे शरणागत हैं उसे तुम शरणागत करना चाहते हो। तुम शूर-सामंत बूझ नहीं रहे हो। मेरे ऊपर इतना बड़ा बोझ मत रखो।

पृथ्वीराज की इस उक्ति में उसकी अकुतोभयता, दर्प, पराक्रम, औदात्य, शूर-सामंतों से आत्म भाव सब कुछ झलक रहा है। हिंदू-तुरूक दोनों मेरी शरण में हैं के कथन से शासक-योद्धा के रूप में हिंदू तुरक दोनों पर उसका समान भाव भी व्यंजित हो रहा है।

ऐसा कथन पृथ्वीराज चौहान के वीरत्व की प्रतिष्ठा करता है।

शूर-सामन्त होने के साथ पृथ्वीराज विलासी भी है। राजकुमारियों के सौंदर्य का वर्णन सुनकर वह पूर्व राग से विह्वल हो उठता है। वस्तुतः उसकी विलासिता ही उसके पराभव का - उसी के क्यों पूरी जाति के पराभव का कारण है। चंद ने पृथ्वीराज के दोषों को छिपाया नहीं है। कैमास-वध के प्रसंग में हम इसे देख चुके हैं। संयोगिता के साथ केलि-विलास के वर्णन में कवि ने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि *संयोगिता की प्रौढ़ रति में निमग्न वह नहीं जान पाता था कि कब रात हुई कब दिन हुआ। गुरु, बंधुओं, भृत्यों, लोगों- सब की गति (राय) उसके विपरीत हो गई-*

> अह निसि सुध्धि न जानहि माननि प्रौढ़ रति
> गुरु बंधव, भृत, लोइ भई विपरीत गंति

पृथ्वीराज-चंदवरदाई का साथ कृति में प्रायः सर्वत्र है। जब जब पृथ्वीराज पर कोई संकट पड़ता है या वह सन्मार्ग से विचलित होता है, चंदवरदाई उसे निर्भीक सलाह देता है, सच्चे शुभचिंतक मित्र की भांति। मध्यकाल के वातावरण में चन्दवरदाई का ऐसा दीप्त चरित्र अद्वितीय है। इस प्रसंग में सर्वाधिक मार्मिक एवं करुण स्थिति उस समय दिखलाई पड़ती है जब ग़जनी के कारागार में अंधे पृथ्वीराज की भेंट चंदवरदाई से होती है। डॉ. नामवर सिंह ने रासो के इस प्रसंग की मार्मिकता पर विचार करते हुए लिखा है-

... वह प्रसंग कितना मार्मिक है जब अंधा नरेश अपने प्रिय सहचर चंद का स्वर सुनता है। पहले वह पहचान नहीं पाता। फिर थोड़ी देर बाद स्वर के सहारे पहचान लेता है। उल्लास होता है, लेकिन फिर न जाने कितने भाव मन में उठते हैं। शायद यह कि आज इस विरुद के उपलक्ष्य में पहले की तरह पुरस्कार देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। शायद यह कि आज यह विरुद व्यंग्य की तरह चुभता है, शायद यह कि अपना यह विपन्न रूप चंद को दिखाने के लिए मैं क्यों जीवित हूँ, शायद यह कि डूबते को तिनके का सहारा मिला और बहुत दिनों के बाद परदेश में स्वजन का स्वर सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पृथ्वीराज कुछ नहीं बोलता; केवल -

> **नेहनीर रुकि कंठ कवि, नैन भाल झलझल पानि।**
> **विन बोलत बोल्यो नृपति चंद चिंति बरबानि।।**

(पृथ्वीराज रासो भाषा और साहित्य)

यहाँ 'बिन बोलत बोल्यो नृपति, वह सब कुछ कह देता है जो राजा के मन में है। पृथ्वीराज ही नहीं चंद के मन की व्यथा भी वह प्रकट कर देता है। अनुभूति की असीमता को शब्दों का अपव्यय नहीं मौन एवं शब्द संयम व्यंजित करता है। कबीर, तुलसी, सूर निराला की भाँति चंदवरदाई भी इसे जानते थे इसी-लिए सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग में शब्दों का नहीं मौन का उपयोग किया-

> **बिन बोलत बोल्यो नृपति**

कनवज्ज समय

रासो का एक महत्वपूर्ण अंश है कनवज्ज-समय। पृथ्वीराज चौहान और जयचंद में वैर था। कन्नौज जयचंद की राजधानी थी। जयचंद अपने समय में उत्तरी भारत का सम्भवतः सबसे बड़ा शासक था। उसकी उपाधि दल पंगुर थी। 'दल पंगुर' अर्थात ऐसा नरेश जिसकी सेना इतनी विशाल हो कि उसे प्रयाण न करना पड़े। जहाँ आक्रमण करना हो वहाँ तक सेना ही रहे, यानी जिसकी सेना चलती न हो, पंगु हो।

NMDC-064

किंतु पृथ्वीराज किसी से नहीं दबता था। उसने सुना कि जयचंद ने राजसूय यज्ञ किया जिसमें उसने पृथ्वीराज की प्रतिमा यज्ञ-सभा के द्वार पर स्थापित कर दी। जयचंद की पुत्री संयोगिता ने पृथ्वीराज के रूप-पराक्रम की गाथा सुन रखी थी। उसने जयमाल पृथ्वीराज के गले में डाल दी। जयचंद ने यह सुना तो उसे क्रोध हुआ और उसने अनेक दासियों के साथ संयोगिता को गंगा तट पर स्थित एक महल में रहने की व्यवस्था करा दी।

पृथ्वीराज यह समाचार सुनकर अपमान से दग्ध हो उठा। साथ ही साथ उसके ह्रदय में संयोगिता के प्रति अनुराग का भाव भी अंकुरित हुआ। चंदवरदाई को साथ लेकर वह कन्नौज जाने के लिए उद्यत हुआ। यहाँ कवि ने कौशल से षड्ऋतु वर्णन का अवसर निकाल लिया है।

पृथ्वीराज एक एक करके अपनी रानियों से कन्नौज जाने की आज्ञा माँगता है। प्रत्येक रानी उसे एक ऋतु भर रोक लेती है। अनिवार्यतः यह संख्या छह होनी थी। क्योंकि ऋतुएँ छह ही होती हैं। पृथ्वीराज सबसे पहले बड़ी रानी इंछिनी के पास जाते हैं। इंछिनी क्या उत्तर दे। उत्तर और प्राण दोनों कंठ में एक साथ आ गए। कंठावरोध हो गया-

प्रान ज्वाब दोनों चलै आन अटक्कै कंत

ऋतु वसंत की थी। बड़ी रानी इंछिना ने कहा आम की मंजरी आ गई है, कदम्ब फूले हैं, रातें दीर्घ हैं। भ्रमर मकरंद पान में मग्न भ्रमित होकर इधर उधर गुंजार रहे हैं। वायु बहती हुई विरहाग्नि का ताप दे रही है। कोकिल कुहू कुहू बोलकर रति की आग लगा रही है। हे नाथ! पैरों पड़ती हुई विनती करती हूँ। मेरे प्रति स्नेह का भाव धारण करो; यौवन का काल दिनों दिन घट रहा है, वसंत में गमन मत करो

मवरि अंब फुल्लिग कदंब रजनी दिघ दीसं।
भवर भाव भुल्ले भ्रमंत मकरंदय सीसं।।
बहत बात प्रज्जलति मौर अति विरह अगिन किय।
कुह कुहंत कल कंठ पत्र राषस रति अग्गिय।।
पय लग्गि प्रान पति बीनवों नाह नेह मुझ चित धरहु।
दिन दिन अवद्धि जुटवन घटिय कंत वंसत गम करहु।।

इसी प्रकार उन्हें प्रत्येक रानी एक एक ऋतु में रोक लेती है। अब पृथ्वीराज गमन करें तो कैसे। कहीं भी जाएंगे कोई न कोई ऋतु तो होगी ही। ऐसे संकट से उन्हें चंदवरदाई ही उबार सकते थे। चंदवरदाई ने रितु' को ही इससे उबरने का रास्ता भी बना दिया। ऋतु शब्द का उपयोग स्त्रियों के मासिक धर्म की स्थिति के लिए भी होता है। चंद ने रास्ता सुझाया

रोष भरै उर कामिनी, होइ मलिन सिर अंग।
उहि रिति त्रिय न मावई सुनि चुहान चतुरंग।।

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक रानी से कन्नौज जाने की आज्ञा लेना षड्ऋतु वर्णन का बहाना है। कवि किसी न किसी छल से षड्ऋतु वर्णन की कथानक रूढ़ि का निर्वाह करना चाहते हैं।

रासो के अनुसार संवत् ग्यारह सौ एक्कानवे में चैत की तृतीया को रविवार के दिन पृथ्वीराज ने कन्नौज की ओर प्रयाण किया। रास्ते में कालिन्दी (यमुना) मिली। शुभ शकुन हुए। आगे चल कर गंगा पड़ती है। कवि गंगा की स्तुति त्रिभंगी छंद में करता है। प्रातः काल कन्नौज नगर दिखाई पड़ा। कवि को यहाँ उद्यान वर्णन एवं नगर वर्णन की कथानक रूढ़ि के पालन का अवसर मिलता है।

चंद पहले उद्यान का वर्णन करते हैं। उसमें नाम परिगणन भी है और अनूठा सादृश्य-विधान भी। उद्यान-वर्णन के उपरान्त नगर वर्णन है। कन्नौज में रत्नों, मोतियों,मणियों की दूकानें हैं। नाके-नाके पर तमोली हैं, पान खाकर थूकने से कीचड़ सा हो गया है। कवि कहता है कि नगर वर्णन करने लगूंगा तो बहुत देर हो जाएगी इसलिए जयचंद के द्वार चलें। पृथ्वीराज एवं चंद को हज़म (कोतवाल) मिलता है जो उन्हें दरबार में पहुंचाता है। जयचंद को देखकर चंद अपने हाथ उठाकर उन्हें आशीर्वाद देता है। इसके पश्चात जयचंद और कवि का संवाद मनोरंजक एवं विदग्धतापूर्ण है। जयचंद कवि चंद के बरदिया उपाधि पर श्लेष-व्यंग्य (बरदाई और बरध बैल) करता हुआ पूछता है-

मुह दरिद्र अरु तुच्छ तन जंगल राव सु हद्द।
बन उजार पसु तन चरन, क्यों दूबरो बरद्द।।

NMDC-064

मुख मंडल से दारिद्रय टपकता है, शरीर क्षीण है जंगल की सीमा पर रोक है? वन उजड़ गया है पशु चर नहीं पाता। क्या कारण है कि बर्द (बैल - बरदिया) दुबला है?

चंद ने उत्तर दिया-

पृथ्वीराज ने दुष्ट शत्रुओं को पराजित किया। वे वन में पले, डाल, मूल, वृक्ष पकड़ कर छिप गए। अनेक दातों में तिनके दूब रखकर चौहान की शरण में गए। इससे पत्तों दूबों की कमी पड़ गई और वर्द दुबला हो गया- आदि

जयचंद ने पृथ्वीराज के विषय में प्रश्न किया - वह कैसा है, उसकी सेना कितनी बड़ी है। चंद ने पृथ्वीराज की उम्र बताई- बरस तीस छह अग्गरौ- छः वर्ष आगे तीस यानी छत्तीस। इसी बीच दरबार में एक नाटकीय घटना घटी। पृथ्वीराज की एक दासी जयचंद के यहाँ रहने लगी थी। वह केश खोले रहती थी। किंतु पृथ्वीराज को देखते ही उसने सिर ढांक लिया। जयचंद को शंका हुई कि यह व्यक्ति पृथ्वीराज तो नहीं है। लोग तरह तरह की बातें करने लगे। किसी ने कहा कि चंद को देखकर दासी ने सिर ढंका क्योंकि चंद पृथ्वीराज का अभिन्न है। चंद और पृथ्वीराज को एक सुसज्जित आवास में ठहराया गया। किंतु अन्ततोगत्वा पृथ्वीराज पहचान लिया जाता है और जयचंद पृथ्वीराज पर आक्रमण करने की आज्ञा देता है।

पृथ्वीराज और संयोगिता का मिलन इसी युद्ध की पृष्ठभूमि में होता है। पृथ्वीराज सामंतों से युद्ध क्षेत्र में जाने के लिए कहता है और स्वयं नगर देखने निकल पड़ता है। इधर जयचंद की सेना ने हाथियों घोड़ों सहित आक्रमण किया उधर पृथ्वीराज ने नगर घूमने का ध्यान किया और गंगा तट पर जा पहुँचा

इते सेन चढ़ि पंगबर है गै दिसा निसान
लच्छिन नैर नरिदं करि गंग सुपलौ ध्यान

पृथ्वीराज मछलियों को मोती चुगा रहा था। सखी ने झरोखे से देखा। उसने संयोगिता से बताया। संयोगिता पृथ्वीराज को देखकर विह्वल हो गई।

मदन ने उसे सरल व निरीह बना दिया। जिह्वा से प्राणेश को रटती है। नयनों से अश्रु प्रवाहित हो रहा है। वामा को कंत कैसे/किस प्रकार मिले?

मदनं सरलति विविह्न जिव्हा रटयति प्रान प्रानेस।
नयन प्रवाहति विवहा अह वामा कंत कथ्थयं।।

संयोगिता पृथ्वीराज से गंगा तट पर ही मिलती है। पृथ्वीराज संयोगिता को घोड़े पर बिठाना चाहता है। तो उसे संकोच होता है भविष्य के प्रति नारी-सुलभ डर भी कि चौहान आजीवन (भीर परत) उसका साथ देगा? मैं पिता की सारी सेना के सामने घोड़े की पीठ पर कैसे बैठूं।

किम हय पुट्ठिहि आर हौं घटि दल संगह राज।
भीर परत जो तजि चल्यौ तव मो आवै लाज।।

संकट पड़ने पर जब पृथ्वीराज मुझे तज चलेगा तब मुझे इस से लज्जा आएगी सब के सामने। पृथ्वीराज ने समझाया- मन को अब भारी मत करो। मैं जयचंद की समस्त सेना का संहार कर दूँगा। सुंदरी तब तुम्हें घोड़े पर बैठते समय लज्जा नहीं आएगी।

तब हसि जंप्यो नृप बयन गहर न कीजिय अब्ब
सब्ब पंग दल संहरौ सुंदरि लाज न तब्ब

इसके बाद संयोगिता कुछ सोच समझ रही थी कि पृथ्वीराज ने उसे बांह से पकड़ कर घोड़े पर बिठा लिया। संयोगिता घोड़े पर पृथ्वीराज की पीठ से सट कर बैठ गई। मानों पूर्ण चंद्रमा सूर्य के साथ जुड़ कर बैठ गया हो-

हय संजोगि आरुहिय पुट्ठि लग्गी सो वाम नृप
पति राका पूरन प्रमान अरक बैठे सु सूर बिप

इसके बाद पृथ्वीराज और जयचंद की सेनाओं के बीच युद्ध का विशद वर्णन है। अंत में पृथ्वीराज संयोगिता को लेकर दिल्ली पहुंचते हैं जहाँ उनका विधिवत विवाह होता है। तदुपरान्त कवि उनके केलि-विलास का जमकर वर्णन करता है।

2.2.2 युद्ध और शृंगार

रासो में प्रायः युद्ध और शृंगार दोनों का वर्णन साथ-साथ होता है। इसी ढांचे म कहां-कहीं कवि जीवन के यथार्थ एवं मार्मिक चित्र प्रस्तुत कर देता है। निस्संदेह चंद के काव्य-मूल्य सामंती हैं किंतु अपने देश काल को देखते हुए चंद मानवतावादी कवि हैं। उनकी निर्भीकता का परिचय हम 'कैमास-वध' के प्रकरण में पा चुके हैं। कैमास की पत्नी अपने पति का शव माँगने जब जाती है तब उसकी उक्तियों में निर्वेद का ऐसा औदात्य मिलता है जो अन्यत्र शायद ही कहीं मिले। वह कहती है कि जीवन ही सभी कार्यों और आन्तरबाह्य चेष्टाओं का आधार है। जिसे अपना जीवन मूल्यवान लगता है उसे नृपति के वचनों का बहुत भय रहता है। किंतु अब तो मेरे लिए सरोवर सूख गया, हंस अपने पंखों को समेट कर उड़ गया। अर्थात मेरे पति की मृत्यु हो जाने के बाद मेरे लिए जीवन निस्सार हो गया है अब मुझे प्राणों का क्या भय - अब मुझे पृथ्वीराज का कोई डर नहीं

जउ जीवन साई अप्पन उ नृपति बहुत बच्चनह भउ
सुक्क सरोवर हंस गउ सुकिलि उडड़ अंधार भउ

चंदवरदाई वीरता की अभिव्यक्ति केवल युद्ध-वर्णन में ही नहीं करते। वे वीरता को आन्तरिक गुण मानते हैं। संकट के समय जब शूर-सामन्त पृथ्वीराज को सकुशल दिल्ली चले जाने का आग्रह करते हैं तब चौहान उनसे कहता है कि मैंने ऐसा पाठ नहीं पढ़ा है। कन्ह चाचा की वीरता का चित्रण कवि इस बिम्ब के द्वारा देता है -

मुख छुट्ठत नृप बैंन दिट्ठ दिष्यौ धावन्तं।

पृथ्वीराज के मुख से निकले हुए वचन सुनाई पड़ने के साथ ही आंखों ने शत्रु पर कन्ह को आक्रमण करने के लिए दौड़ते हुए देखा।

रासो का काव्योत्कर्ष शृंगार के क्षेत्र में वीरता से कम नहीं। चंद वयस्संधि वर्णन में परम निपुण हैं। यहाँ भी वे नायिका के शरीर का ही नहीं उसके मनोभावों का भी चित्रण करते हैं। चंद प्रायः ऐसा चित्रण-वर्णन करते हैं कि पात्र के शरीर और मन का चित्रण एक साथ हो जाता है। यह शृंगार वर्णन की दृष्टि से चंद की विशेषता है।

कवि ने शशिव्रता के कैशोर आगमन का चित्रण शिशिर में अचानक वसंत आ जाने के बिम्ब-रूपक से किया है-

पुराने पत्ते झड़ गए। कोमल अंकुर निकलने लगे। शैशव उतर रहा है और कैशोर चढ़ रहा है। शीतल मंद सुगंध वायु के साथ अचानक ऋतुराज आ गया। रोमराजि, कुच, नितम्ब कोमलता वृद्धि पा गए। शीत के समान कटि बढ़ती नहीं बल्कि निरंतर क्षीण हो रही है। पत शब्द का श्लेष करते हुए कवि कहता है- (पत - पत्ता और मर्यादा, लज्जा)

पत्ते ढंक नहीं पाते तने को, वह प्रयास करने पर भी शरीर को ढंक नहीं पाती। वसंत ने तन को मत्त जो कर रखा है, कैशोर ने शशिव्रता के मन को मतवाला कर दिया है:

पत्त पुरातन झरिग पत्त अंकुरिय उट्ठि तुछ।
ज्यों सैसव उत्तरिय चढ़िय बैसव किसोर कुछ।।
सीतल मंद सुगंध आइ रितुराज अचानं।
रोमराइ अंग कुच नितम्ब तुच्छ सरसानं।।
बढ्ढै न सीत कटि छीन ह्वै लज्जामान ढकत फिरै।
ढक्कहं न पत्त ठकै-कहै वन बसंत मत्त जु करै।

पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता को घोड़े पर चढ़ाते और संयोगिता के लजाने का भी कवि ने मार्मिक चित्रण किया है। इस प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं, 'प्रणय का प्रस्फुटन कर्म क्षेत्र में ही होता है, जहाँ युगल हृदय एक-दूसरे को सहयोग देते हुए परस्पर श्रमसिक्त मुख देखते चलते हैं।'

2.2.3 पात्र चित्रण

चंद की विशेषता यह है कि वे पात्रों की दुविधा का चित्रण करना नहीं भूलते। चाहे वयस्संधि नायिका की दुविधा हो, चाहे पृथ्वीराज के साथ दिल्ली जाने के लिए घोडे पर बैठती संयोगिता की दुविधा। माता-पिता का घर छोड़कर पृथ्वीराज से मिलने के लिए मंदिर जाने की तैयारी करती हुई शशिव्रता के मन का द्वंद्व द्रष्टव्य है।

NMDC-064

देव (गुरुजन, माँ-बाप) को छोड़ने का दुःख और दूसरी तरफ हृदय में प्रेम-अंकुर का जन्म लेना, इस दुविधा से शशिव्रता ने अपने को यह कह कर सांत्वना दी कि काल बलवान है-

दुख देवल को छँउनइ उर सिंचन अंकूर
दीह काल बल बीच वदि लिय समान सपूर

इसी प्रकार कितना मनोवैज्ञानिक है कवि का यह चित्रण, पृथ्वीराज ने जब पहली बार शशिव्रता का हाथ पकड़ा तो-

गहत बाल पिय पानि सु गुर जन संभरे
लोचन मोचि सुरंग सु अंसु बहे खरे
अपमंगहं जिय जानि सु नैन मुख बहीं
मनो खंजन मुख मुत्त मरक्कत नरंवही

जब प्रिय पृथ्वीराज ने बाला का हाथ पकड़ा तो उसने अपने गुरुजनों (माता-पिता, मायके के लोगों) का स्मरण किया। सुंदर नेत्रों से आँसू बहने लगे। लेकिन उसने इसे अशुभ समझकर रोका। कुछ आँसू आंखों के कोनों में लगे रहे (तुलनीय- लोचन जल रह लोचन कोना- तुलसी)।

चंद ने उपमा दीः

मानों खंजन मोती खा रहा हो कुछ मुंह में लगे हैं कुछ नीचे गिर रहे हैं।

2.2.4 प्रकृति वर्णन

कवि प्रकृति वर्णन में सिद्धहस्त है। कनवज्ज समय के षट्-ऋतु वर्णन से आप परिचित हो चुके हैं। यह षट्-ऋतु वर्णन आरोपित न होकर मानव कार्य व्यापार का अंग बनकर आया है। उनके प्रकृति-वर्णन में खास बात यह होती है कि वे प्रकृति का ऐसा चित्रण करते हैं कि उससे पात्रों की तत्कालीन मनःस्थिति का चित्रण हो जाता है। कैमास अंधेरी रात में कर्णाती के साथ केलि-विलास में निमग्न है। घोर अंधकार है, मूसलाधार वर्षा हो रही है। इस स्थिति के वर्णन में कवि के बिम्बों पर ध्यान दीजिए तो प्रकृति-वर्णन के साथ संयोग-शृंगार में मन और शरीर दोनों की चेष्टाओं की अकुंठ व्यंजना मिलेगी-

अंधारेन जलेन छिन्न छितया तारानि धारा रत।
सा मंत्री कयमास काम अंधा दैवो विचित्र गत।।

अंधकारपूर्ण रात में पृथ्वी घनघोर वर्षा से छिन्न-भिन्न विदीर्ण हो रही है। तारे भी मूसलाधार वर्षा में छिपे हैं। वह मंत्री कैमास कामांध है। दैव की गति विचित्र है। पृथ्वी का घनघोर वर्षा से विदीर्ण होना घोर शृंगार का संकेत है। वर्षा में तारे छिपे हैं। इधर कैमास भी कामांध है। जिसे आधुनिक आलोचना कविता में समानान्तरवाद (पैरेलेज्मि) कहती है यह उसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इस वर्णन के बाद कवि मानो दृश्य से तटस्थ हो गया है और दार्शनिक टिप्पणी करता है- दैव की गति विचित्र है- - दैवो विचित्रा गति। पर्य्यावसान एक प्रकार के भाग्यवादी अवसाद में होता है। सा मंत्री कयमास काम-अंधा। ऐसा योग्य और कर्तव्यपरायण मंत्री विवेकहीन हो गया यह दैव-गति की विचित्रता नहीं तो और क्या है?

पृथ्वीराज रासो के दो प्रमुख प्रसंगों - कैमास वध और कनवज्ज समय - के विश्लेषण के माध्यम से हमने पृथ्वीराज रासो की विषय वस्तु, कथानक, पात्र चित्रण, प्रकृति वर्णन आदि कुछ महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा की। इस चरित काव्य के केंद्र में **पृथ्वीराज रासो** है। उसी की कथा इस महाकाव्य के माध्यम से कही गई है। इस कथा में इतिहास का उल्लंघन हो गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि कवि मानवीय सत्यों का अन्वेषक होता है वह इतिहास नहीं लिख रहा होता। कवि चंद ने अपने चरितनायक का चित्रण करते वक्त उसकी कमजोरियों को छिपाया नहीं है। कैमास-वध प्रसंग में कवि की निर्भीकता द्रष्टव्य है।

कनवज्ज समय में अनेक मार्मिक प्रसंग आए हैं। कनवज्ज समय में वर्णित षट्-ऋतु वर्णन हिंदी साहित्य की अनुपम धरोहर है। कवि ने उस युग की समृद्ध नगरी कान्यकुब्ज के सौंदर्य का वर्णन विस्तार से किया है। इसमें कवि की उपमा शक्ति देखने लायक है। राजा जयचंद के राजदरबार में चंदबरदाई के साथ छद्म वेश में पृथ्वीराज के जाने की घटना भी नाटकीयता से भरपूर है। इसके बाद गंगा के किनारे संयोगिता और पृथ्वीराज का मिलन अद्भुत है। कवि भला कब चूकने वाला था!

चंदवरदाई की कल्पना शक्ति और मनोवैज्ञानिक स्थितियों के चित्रण की क्षमता का परिचय आपने प्राप्त कर लिया। आइए अब पृथ्वीराज रासो की भाषा पर विचार किया जाए।

2.3 काव्य कौशल

निस्संदेह चंदवरदाई एक कुशल कवि हैं। उनका काव्य कौशल इसका स्पष्ट प्रमाण है। भाषा पर उनका अधिकार असाधारण है। उन्होंने पहले से चली आ रही काव्य परंपरा को एक ऊँचाई प्रदान की।

कवि में भावों के अनुरूप भाषा को मोड़ने की अद्भुत क्षमता है। बाद में कबीर और तुलसी में यह क्षमता फिर से देखने को मिलती है। भावानुकूलता और तीव्र सौंदर्यात्मकता चंद की भाषा की प्रमुख विशेषता है।

2.3.1 छंद

चंदवरदाई छंद के राजा माने जाते हैं। जैसे-जैसे भाव बदलते जाते हैं वैसे-वैसे कवि छंद की राह बदलता चलता है और आरोह-अवरोह के साथ भाषा संगीतमय लय में गुनगुनाती हुई ठुमकती चलती है। इससे एक संगीत पैदा होता है। चंदवरदाई छंदों के अधिकारी कवि हैं। उन्होंने अपने समय में प्रचलित अधिकांश छंदों का प्रयोग किया है। सबसे ज्यादा मन लगता है छप्पयों में। चंद मार्मिक चित्रण छप्पयों में करते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे अन्य छंदों में मार्मिक उक्तियाँ नहीं कहते। गाथा का उपयोग वे प्रायः कथा को आगे बढ़ाने के लिए करते हैं।

2.3.2 अनुनासिकता

रासो का कवि अनुनासिक प्रयोग से प्रायः झंकार उत्पन्न करता है। चाहे शृंगार हो या वीर यह अनुनासिक झंकार रासो में अबाध गति से सुनाई पड़ती है। झंकार स्थिति को ध्वनित करके गुंजा देता है। यह प्रवृत्ति तुलसीदास में भी मिलती है। इसी प्रकार द्वित्व व्यंजनों का प्रयोग प्रधानतः युद्ध वर्णन में और सामान्यतः सर्वत्र मिलता है। रासो का कवि अपने समय की काव्य-परंपरा का रस सिद्ध कवि है। उसने स्वयं लिखा है-

रासउ असंभु नव रस सरस छंदु चंद किय अमिय सम।
शृंगार वीर करुन विभच्छ मय अद्भुतइ संत सम।।

2.3.3 ध्वनि प्रवाह

चंद की काव्य भाषा में अनुस्वार द्वित्व मिश्र की ध्वनियाँ प्रवाह-अवरोध नहीं करतीं! वे चंद के कुशल हाथों अभूतपूर्व प्रवाह उत्पन्न करती हैं। प्राकृत-अपभ्रंश की काव्य परंपरा में चंद का ध्वनि-प्रवाह अद्वितीय है। ध्वनि-प्रवाह अपभ्रंश के महान कवि स्वयंभु में चंद से कम नहीं किंतु चंद का काव्य-प्रवाह द्वित्व एवं अनुस्वार के साथ गूंजता हुआ गतिशील होता है। चंद चाहे देवी देवताओं की स्तुति करें, युद्ध का वर्णन या नारी-शरीर का सौंदर्य या विनोद - यह अनुस्वार द्वित्व सहित प्रवाह सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। वे वर्णानुप्रास के भी सिद्ध कवि हैं। उनके भाव नाद-प्रवाह में रूपांतरित हो जाते हैं- जिसे हमारे साहित्य शास्त्रियों ने शब्दार्थ का सहित त्व कहा है। काव्य के प्रारंभिक अंश में सरस्वती वंदना में स्वर व्यंजनों की मैत्री से उत्पन्न ध्वनि की आवर्तें चंद की शैली का ठेठ उदाहरण हैं।

मुलाहार विहार सार सुबुधा अब्धा बुधा गोपिनी
सेतं चीर सरीर नीर गहिरा गोरी गिरा जोगिनी
बीना पानी सुबानि जानि दधिजा हंसा रसा आसिनी
लंबोजा चिहुरार भार जघना बिघ्ना घना नासिनी

जरा सा ही विचार करने पर ज्ञात हो जाएगा कि यह प्रवाह चाहे जितना स्वाभाविक लगे, इसके पीछे गहरा लोक-ज्ञान, परंपरा ज्ञान, संवेदना एव अभ्यास है।

'कनवज्ज समय' में युद्ध के इस वर्णन में युद्धमत्त सैनिकों के हथियारों और कोलाहल का निनाद-

बजंत घाय सद्दकं ननद्द सद्द सुंदरं।
गरब्बि देखि अग्गि ज्यों विदोष मन्न जे दुरं।।
उठंत दिष्ट सुर की करूर अंखि राजई।
मनो कि सौकि बीय दिष्ट बंकुरीति साजई।।

चंदवरदाई रूढ़ उपमानों के उपयोग से सौंदर्य वर्णन में शृंगार को अद्‌भुत से पुष्ट भी कर सकते हैं। प्रसंग पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता का प्रथम दर्शन है। पृथ्वीराज ने देखा-

कुंजर के ऊपर सिंह। सिंह के ऊपर दो पर्वत। पर्वत पर भौरें। भौरें पर चन्द्रमा। चन्द्रमा के ऊपर एक तोता बैठा है। जिस पर दो हिरण है हिरन पर दो धनुष और धनुष पर कंदर्प

> **कुंजर उप्पर सिंघ, सिंघ उप्पर दुइ पव्वय।**
> **पव्वय उप्पर भृंग भृंग उप्पर ससि सुभ्भय।।**
> **ससि उप्पर इक कीर कीर उप्पर मृग दिट्ठौ।**
> **मृग उप्पर कोवंड संघ कन्द्रप्प वयट्ठौ।।**

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये नख-शिख के रूढ़ उपमान हैं जिन्हें चंद ने अपने ढंग से प्रस्तुत करके अद्‌भुत को शृंगार का सहायक बना दिया है। इसी प्रकार वे यथाअवसर वीभत्स और भय को वीर का सहायक बनाते हैं।

2.4 सारांश

रासो का हिंदी साहित्य के इतिहास में अविस्मरणीय स्थान है। रासो अपनी पूर्ववर्ती परधारा और परवर्ती साहित्य-विकास का सेतु है। उसमें पूर्ववर्ती काव्य-प्रवृत्तियों का संधान मिलता है तो परवर्ती प्रवृत्तियों के रूप। पृथ्वीराज रासो के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. नामवर सिंह ने ठीक ही कहा है-

> रासो मानव जीवन की विविध परिस्थितियों और भाव दशाओं का महासागर है। यही वह विशेषता है जिससे युग के सभी काव्यों में रासो को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। निश्चय ही यह उस युग की सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा पूर्व परम्पराओं का बृहद्‌कोश है और मध्ययुगीन भारतीय समाज का एक काव्यात्मक इतिहास है।

इस इकाई में हमने पृथ्वीराज रासो के काव्यत्व पर विचार किया। दो इकाइयों में हमने पृथ्वीराज रासो का अध्ययन किया। पहली इकाई में हमने पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर विचार किया था। इस संदर्भ में हमने कहा था कि पृथ्वीराज रासो का मूल्यांकन एक काव्य-ग्रंथ के रूप में किया जाना चाहिए न कि एक इतिहास-ग्रंथ के रूप में। दूसरी इकाई में पृथ्वीराज रासो के काव्यत्व पर विचार करते हुए हमने पाया कि रासो एक उत्कृष्ट रचना है। सामंती मूल्यों से ग्रस्त होने के बावजूद इसमें मानवीय क्रिया कलापों का स्वच्छंद, निर्भीक, यथार्थपरक और मार्मिक चित्रण किया गया है।

2.5 अभ्यास/प्रश्न

1. पृथ्वीराज रासो में वर्णित प्रसंगों का उल्लेख कीजिए।
2. कैमास वध में कवि की निर्भीकता किस प्रकार प्रकट हुई है?
3. कनवज्ज समय के षट्-ऋतु वर्णन का क्या महत्व है?
4. चंद को छंद का राजा क्यों कहा जाता है?

इकाई-3 विद्यापति और उनका युग

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 विद्यापति का युग

3.2.1 राजनीतिक परिस्थिति

3.2.2 सामाजिक स्वरूप

3.2.3 इतिहास

3.3 विद्यापति की भाषा

3.3.1 जन भाषा का निर्माण

3.3.2 भाषागत विशेषताएँ

3.4 सारांश

3.5 अभ्यास/प्रश्न

3.0 उद्देश्य

पिछली दो इकाइयों में आपने **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता, ऐतिहासिकता, भाषा, काव्यरूप और काव्यत्व का अध्ययन किया। अब हम आदिकाल के एक प्रमुख कवि विद्यापति का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- विद्यापति के साहित्य में राजनीति, समाज और इतिहास का परिचय प्राप्त कर सकेंगे, और
- विद्यापति की भाषा की उर्वरता की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के आदिकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ **पृथ्वीराज रासो** से आप पिछली दो इकाइयों में परिचित हो चुके हैं। इससे आपको आदिकालीन काव्य की एक विशिष्ट शैली की जानकारी मिली। हिंदी साहित्य के आरंभिक युग में कई शैलियाँ और धाराएँ एक-साथ विकसित हुईं। इस युग में महाकाव्य भी लिखे गए और मुक्तक भी, प्रशस्ति काव्य भी रचे गए और शृंगार काव्य की भी रचना की गई, सिद्ध-नाथों ने भी काव्य रचा और जैन-मुनियों ने भी साहित्य की रचना की। इसी युग में विद्यापति कविताएँ लिख रहे थे। विद्यापति का युग आदिकाल के अवसान का युग था। भक्तिकाल का आरंभ नहीं हुआ था और आदिकाल की क्षमताएँ चुक रही थीं। दहलीज पर खड़ा कवि आदिकाल की पूरी परम्परा से जुड़ा था और नए युग के आगमन का संकेत भी दे रहा था। इसीलिए **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** जैसे प्रशस्ति काव्य ग्रंथ लिखे गए, ''पदावली'' जैसी शृंगारिक उक्तियाँ अभिव्यक्त की गईं और राधा तथा कृष्ण का स्मरण कर कवि ने बता दिया कि आने वाला युग भक्ति को समर्पित है। विद्यापति की इस व्यापकता में विविधता, नूतनता और प्रयोग भी परिलक्षित हो सकता है और कहीं-कहीं इन सभी प्रवृत्तियों के बीच अंतर्विरोध भी नज़र आ सकता है।

विद्यापति की रचनाओं में उनका युग प्रतिबिम्बित हुआ है। **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** इतिहास के दस्तावेज़ हैं। **पृथ्वीराज रासो** के समान इसमें प्रक्षेप नहीं हुआ है, अतः ऐतिहासिक भूलें नहीं की गई हैं। सभी तथ्य इतिहास-सम्मत हैं।

विद्यापति की भाषा अपभ्रंश से छूटती हुई और आधुनिक आर्यभाषाओं की ओर बढ़ती हुई भाषा है। उनकी भाषा जन-भाषा है। संस्कृत, फारसी, प्राकृत आदि स्रोतों से कवि ने शब्द ग्रहण अवश्य किया है परंतु उसे ज्यादा से ज्यादा जन-भाषा मैथिली के नज़दीक ले जाने का प्रयास किया है। सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी भाषा सामासिक संस्कृति के भाषाई विकास का प्रमाण प्रस्तुत करती है।

NMDC-064

3.2 विद्यापति का युग

इतिहासकारों के बीच प्रायः मान्य है कि विद्यापति सन 1360 से 1480 के बीच मौजूद थे। अनेक दृष्टियों से यह संक्रमण-काल माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विद्यापति को न तो वीरगाथाकाल में रखा है और न भक्ति काल में। अनेक इतिहासकारों ने आचार्य शुक्ल की इतिहास-लेखन पद्धति की आलोचना करते हुए इसी बात को अपना दृष्टांत बनाया है कि इतिहास में विद्यापति का स्थान तय करने के लिए आचार्य शुक्ल को फुटकल खाता खोलना पड़ा। लेकिन, यह ऐतिहासिक वास्तविकता है कि विद्यापति संक्रमण-काल के कवि हैं। विद्यापति की रचनाओं की अंतर्कथा एवं अंतर्वस्तु पर तथा साहित्य, समाज और राजनीति के इतिहास पर ध्यान देने से संक्रमण की प्रक्रिया और विद्यापति की रचनात्मक विशेषताओं के बीच घना संबंध दिखायी पड़ता है। प्रवृत्तियों की दृष्टि से वे हिंदी साहित्य के इतिहास में न वीरगाथा के कवि हैं और न भक्ति आंदोलन के। यों **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** में भी उन्होंने अपने चरित नायकों की वीरता का वर्णन किया है और वह वर्णन रोमांचक वीरता से भरपूर है और उनके पूरे काव्य में भक्ति के भी ढेर सारे पद हैं। भक्ति भावना होने के बावजूद वे भक्ति आंदोलन के अंग नहीं हैं, क्योंकि उनकी भक्ति-भावना में आंदोलन की चेतना नहीं है। इन बातों से परे विद्यापति मूलतः शृंगारिक कवि हैं। जो लोग विद्यापति की पदावली का भक्तिपरक अर्थ निकालने की कोशिश कर रहे थे, उन पर व्यंग्य करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ''इतिहास'' में कहा था कि आजकल आध्यात्मिकता के चश्मे बहुत सस्ते हो गए हैं। अतः विद्यापति की मूल प्रवृत्ति और उनके समय की विकासमान प्रवृत्ति में एक तरह से अंतर्विरोध था। यही साहित्यिक एवं ऐतिहासिक कारण है कि आचार्य शुक्ल उन्हें फुटकल खाते में रखते हैं। इससे विद्यापति का काव्यात्मक या ऐतिहासिक महत्व कतई कम नहीं होता, बल्कि उनकी विशिष्टता ही प्रमाणित होती है। वे युगांतर के कवि थे।

3.2.1 राजनीतिक परिस्थिति

विद्यापति के समय में भारत में आम तौर से दिल्ली सल्तनत का राज था। इसे स्पष्ट रूप से कहा जाए कि विद्यापति के जीवन-काल में दिल्ली पर तुगलक और लोदी वंश का शासन था। ज़ाहिर है कि विद्यापति के जन्म के बहुत पहले भारत में इस्लाम का आगमन हो चुका था और दिल्ली सल्तनत भी बहुत पहले स्थापित हो चुका था। भारत की जनता ने काफी पहले दिल्ली सल्तनत को स्वीकार कर लिया था, बावजूद इसके कि पूरे देश पर दिल्ली सल्तनत का प्रत्यक्ष शासन नहीं था। लेकिन व्यवहार में उनका प्रभुत्व देश पर था। देशभर में फैली स्थानीय सत्ताएं सल्तनत का प्रभुत्व स्वीकार कर चुकी थीं। प्रायः आठवीं शताब्दी से उत्तर भारत में जो राजनीतिक अस्थिरता थी, वह दिल्ली सल्तनत की स्थापना से समाप्त हो गई थी। लेकिन सत्ता के लिए संघर्ष होता रहता था। ''सत्ता के लिए होने वाली इस प्रतिद्वंद्विता में सल्तनत का उद्भव एक निर्णायक तत्व के रूप में हुआ और उसने प्रादेशिक शक्तियों को बढ़ने से रोकने का प्रयत्न किया।'' (रोमिला थापर - भारत का इतिहास, 1975 संस्करण, पृ.241) अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक स्थिति का एक पहलू यह था कि केंद्रीय सत्ता दिल्ली सल्तनत की थी, जो भीतरी अंतर्विरोध और उठा-पटक के बावजूद कायम थी। उसके प्रभाव से परम्परागत भारतीय राजनीति समाप्त-प्राय हो गयी थी, या शेष थी तो क्षेत्रीय एवं स्थानीय शासन के रूप में ही। इस क्रम में उल्लेखनीय है कि भारतीय राजनीति और समाज में धार्मिक दृष्टि से दो समुदाय हिंदू और मुसलमान अस्तित्व में आ गए थे। इस नई बात ने राजनीति में भी नयापन ला दिया। जवाहरलाल नेहरू ने **भारत की खोज** में अमीर खुसरो का ज़िक्र करते हुए लिखा था कि देश में मुसलमानों के आगमन के बाद राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से जो नयापन विकसित हुआ उसी की देन है अमीर खुसरो। यह बात थोड़े-बहुत फर्क के साथ विद्यापति के बारे में भी कही जा सकती है। यदि विद्यापति **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** जैसी कृतियों की रचना नहीं करते तो शायद यह बात नहीं भी कही जाती, लेकिन यह तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति की भूमिका का रचनात्मक प्रभाव है कि विद्यापति ने **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की रचना की। खुसरो और विद्यापति में फर्क यह है कि खुसरो दिल्ली में रहते थे और विद्यापति मिथिला में। दिल्ली में दिल्ली सल्तनत की राजधानी थी, फलतः खुसरो का उससे सीधा लगाव था। मिथिला दिल्ली से बहुत दूर देश के पूर्वी क्षेत्र का अंग होने के कारण केंद्रीय सत्ता में होने वाले उथल-पुथल के तात्कालिक प्रभाव से दूर रही है। ''मिथिला (उत्तरी बिहार) में - जो अन्य अधिकांश स्थानों की अपेक्षा अधिक समय तक तुर्क आक्रमणों से अछूता रहा था - संस्कृत विद्या के एक केंद्र का विकास हुआ, क्योंकि वहाँ भारी संख्या में ब्राह्मण

एकत्रित हो सके, जिन्होंने अपनी कृतियों में संस्कृत साहित्य की परम्परा को सुरक्षित रखा।" (रोमिला थापर - उपर्युक्त ग्रंथ, पृ.284) इस कथन का महत्व इस बात को ध्यान में रखकर समझा जा सकता है कि दिल्ली सल्तनत के शासनकाल में फारसी के राजभाषा हो जाने से संस्कृत का महत्व कम हो गया और इसी कारण समाज में ब्राह्मणों का भी महत्व घट गया।

मिथिला में संस्कृत भाषा-साहित्य की परम्परा और ब्राह्मणों का प्रभाव कायम रहने के बावजूद विद्यापति के समय में बदलाव आया। मिथिला पर असलान शाह का हमला भी हुआ और भाषा-साहित्य के अखिल भारतीय परिदृश्य का प्रभाव भी पड़ा। इतिहासवेत्ता राधाकृष्ण चौधरी लिखते हैं, "विद्यापति के समय में इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच भी एक प्रकार का आदान-प्रदान शुरू हो चुका था और उत्तर बिहार उस समय सूफियों का एक प्रधान केंद्र बन चुका था। महाराज शिव सिंह ने कुछ मुसलमान संतों और फकीरों को जो दान दिया था उसका प्रमाण भी मिला है। हिन्दू-मुसलमान का संबंध मिथिला के क्षेत्र में काफी अच्छा था और ज्योतिरीश्वर के ठाकुर 'वर्ण रत्नाकर' में जो विदेशी अरबी-फारसी शब्द हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि राजनीतिक आधिपत्य के बहुत पूर्व ही मिथिला में अरबी-फारसी भाषा से सम्पर्क हो गया था। सूफी संतों और फकीरों के माध्यम से ही यह संभव हुआ होगा।....दोनों धर्मों के समन्वय और समागम से नवीन दृष्टिकोण का बीजारोपण हो रहा था और विद्यापति-युग आते-आते इसका और भी विकास हुआ।" (विद्यापति युग का सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन - "विद्यापति अनुशीलन और मूल्यांकन" में संकलित, सम्पादक डॉ.वीरेन्द्र श्रीवास्तव, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी से प्रकाशित) विद्यापति की रचनाओं में इस संक्रान्ति और समन्वय के दौर में विकसित नए दृष्टिकोण की झलक मिलती है। इस दृष्टिकोण की मुख्य विशेषता है राजनीति का धार्मिक प्रभाव से मुक्त होना। धर्म-निरपेक्ष शब्द नया है यानी उस समय यह शब्द नहीं था, लेकिन इसका जो अर्थ है, उसमें निहित जो दृष्टिकोण है, वह कीर्तिलता में है, बल्कि यह कहना बेहतर होगा कि यह दृष्टिकोण विद्यापति में भी है। कीर्तिलता में यह वर्णित है कि राज्य लोभी असलान ने धोखे से तिरहुत के राजा गणेश्वर को मार डाला और राज्य पर कब्जा कर लिया। इसके बाद भी राजा गणेश्वर के पुत्र कीर्ति सिंह ने सोचा कि असलान से बदला लेने के लिए सुल्तान की मदद लेनी चाहिए। उसने सुलतान से मदद माँगी और सुलतान ने असलान के खिलाफ कीर्ति सिंह को मदद दी। सुलतान की सेना की मदद से कीर्ति सिंह ने असलान को भयानक युद्ध में हरा कर खदेड़ दिया और अपने राज्य पर फिर से कब्जा जमा लिया। ध्यान देने की बात यह है कि मुसलमान हमलावर के खिलाफ मदद माँगने के लिए कीर्ति सिंह मुसलमान सुलतान के पास ही गया और मदद पाकर राज्य वापस लिया। यह इस बात का सबूत है कि राजनीति धर्म से प्रेरित नहीं थी। इस प्रसंग में यह भी महत्वपूर्ण है कि सुलतान ने असलान के हारने के बाद राज्य को अपने अधीन नहीं कर लिया, बल्कि कीर्ति सिंह का ही राज्याभिषेक कर दिया। यह भी उल्लेखनीय है कि कीर्ति सिंह के पूर्वज भोगीस राय को दिल्ली के बादशाह फिरोज़शाह तुगलक अपना सखा कहते थे। तत्कालीन राजनीति का असली रूप राज्य पाने के लिए की जाने वाली साजिशों, हमलों, लड़ाइयों और खूँरेजी में देखा जा सकता है। इन सबके फलस्वरूप समाज को राजनीतिक अराजकता के दुष्परिणाम झेलने पड़ते थे। कीर्तिपताका में भी राजा शिव सिंह और सुलतान का युद्ध वर्णित है। युद्ध में शिवसिंह को विजयी दिखाया गया है। इस विजय के फलस्वरूप राजा शिव सिंह की कीर्ति-पताका चारों तरफ फहराती है। राजतंत्र के युग में राजा की कीर्ति जनता की भलाई अथवा अन्य किसी गुण के कारण नहीं, युद्ध में विजय के जरिये ही फैलती है। राजा की शक्ति सेना और युद्ध जीतने की क्षमता में निहित रहती थी। कीर्तिलता में भी इक्कीसवें पद में कहा गया है कि "जो तीखा तर्क कर सकता है, तीनों वेदों को पढ़ता है, दान से दरिद्रता का दलन करता है, परम ब्रह्म को परमार्थ समझता है, धन से कीर्ति बटोरता है, पराक्रमपूर्वक शत्रु से लड़ता है, वह ओइन वंश संसार-प्रसिद्ध है। दोनों बातें एक-साथ नहीं हो सकती। राजा (भूपति) भी हो और ब्राह्मण (भूदेव) भी, यह संभव नहीं। इस कथन में भी देखें कि राजा की कीर्ति धन और सैन्य बल के आधार पर ही फैलती है। यहाँ तो विद्यापति ने धन की भूमिका को ज्यादा असरदार बताया है।

3.2.2 सामाजिक स्वरूप

राजतंत्र राजनीतिक व्यवस्था कायम करने के अलावा समाज में सामंतवादी व्यवस्था की रक्षा करता था। इस तरह प्रजा का दुहरा शोषण होता था। कीर्तिलता और लिखनावली में इस बात का उल्लेख मिलता है कि मिथिला का समाज सामंतवादी था। इसलिए सामाजिक विषमता कई रूपों में मौजूद थी, जिसकी अभिव्यक्ति राजनीति और समाज में कई तरह से होती रहती थी। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निचले तबके के लोग राजनीतिक सत्ता के लाभ से तो वंचित थे ही, उसके दमन के भी शिकार होते थे।

NMDC-064

तत्कालीन समाज वर्णों, जातियों और वर्गों में विभाजित था। राजनीतिक अस्थिरता का सामाजिक स्थिति पर प्रतिकूल असर पड़ता था, जिसका लाभ ऊंचे तबके के लोग ही उठाते थे और निचले तबके के लोगों का संकट बढ़ जाता था, जिससे विषमता और बढ़ ही जाती थी। कीर्तिलता के "द्वितीय पल्लव" के प्रारंभ में ही निम्नलिखित पद है, जिससे सामाजिक स्थिति का पता चलता है -

ठाकुर ठक भए गेल चोर सरपरि घर सज्जिअ।
दासे गोसाउनि गहिअ धम्म गए धंध निमज्जिअ।।
खले सज्जन परिभविअ कोइ नहि होइ विचारक।
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कौ पारक।।

अर्थात राजा गणेश्वर के निधन के बाद हालत इतनी बिगड़ गई कि ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने बलपूर्वक घरों पर कब्जा कर लिया, नौकरों ने गृह-स्वामिनियों को धर दबाया, धर्म खत्म हो गया और धंधे डूब गए, दुष्टों ने सज्जनों को दबोच लिया, कोई विचार करने वाला नहीं रहा, जाति और अजाति में विवाह होने लगे, अधम और उत्तम के भेद का विवेक करने वाला कोई नहीं बचा।

फिर आगे की दो पंक्तियों में कहा गया है -

अक्खर रस बुज्झि निहार नहि कवि कुल भमि भिख्खरि भऊं।
तिरहुत्ति तिरोहि सबे गुणे रा गणेथ जबे सग्ग गउं।।

अर्थात अक्षर-रस (यानी काव्य-रस) का मर्मज्ञ कोई नहीं बचा, कवि लोग घूम-घूम कर भिखारी हो गए। राजा गणेश्वर जब स्वर्ग चले गए तो तिरहुत के सभी गुण तिरोहित हो गए।

कवि तो कह रहा है कि राजा गणेश्वर के स्वर्गवास के बाद तिरहुत के समाज में उपर्युक्त दुर्वृत्तियाँ फैल गईं, लेकिन वैज्ञानिक ढंग से सोचने पर स्पष्ट होगा कि ये दुर्वृत्तियाँ समाज में पहले से थीं; हाँ, राजा का कठोर शासन रहा होगा, जिसके भय से जनता में एक व्यवस्था थी। वह भय खत्म हो जाने से या समाज में अराजकता छा जाने से ठगी बढ़ गई, चोरी और सीनाजोरी बढ़ गई, परिवारों में अनाचार होने लगा, धर्म के नियम गायब हो गए और अव्यवस्था के कारण व्यापार चौपट होने लगा। ऐसे दौर में आम तौर से निचले तबके के लोग ऊपर उठते हैं, इसलिए उस समय के तिरहुत में भी जातीय भेदभाव पर चोट पड़ने लगी और कवियों की हालत खराब हो गई।

यह हालत तो मिथिला के सामान्य समाज की थी, लेकिन कीर्ति सिंह के जौनपुर पहुँचने पर इस नगर का जो वर्णन किया गया है, उससे समाज के एक दूसरे रूप का साक्षात्कार होता है। इस वर्णन से वर्ग विभाजित सामंती समाज का जीवंत स्वरूप सामने आ जाता है। बड़ी-बड़ी और ऊंची-ऊंची अट्टालिकाओं के वर्णन से धनाढ्य राज्यसत्ता से जुड़े वर्ग का बोध होता है। बाज़ार की भीड़ का **कीर्तिलता** में रोचक वर्णन है। नगर के समाज में ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत और अन्य अनेक जातियाँ बसी थीं। वहाँ वेश्याएं भी थीं और उनके भी महल ऐसे थे कि कवि को लगता है कि उन्हें स्वयं विश्वकर्मा ने बनाया हो। वहाँ बड़ी संख्या में गुलाम भी थे जो बिकने के लिए तैयार रहते थे। वहाँ दासियाँ और नौकर-चाकर भी बहुतेरे थे। हिंदू-मुसलमान एक साथ रहते थे, हालाँकि राज्य की सुविधा की दृष्टि से भेदभाव थे। इसके बावजूद "कहीं बांग दी जा रही है, कहीं वेद-पाठ है, कहीं बिस्मिल्लाह है, कहीं बलि है। कहीं ओझा है, कहीं खोजा है। कहीं नकल (रात्रि-व्रत) है, कहीं रोजा है, कहीं ताम्रपत्र है और कहीं कूजा है।" कहीं मुसलमानों के द्वारा जोर-जबरदस्ती किए जाने का भी वर्णन है। ऐसा लगता है व्यवसाय काफी विकसित था। ऐसा वर्णन है कि "दोपहर में भीड़ लगती है। पृथ्वी मंडल की समस्त वस्तुएं बिकने आती हैं। व्यापारी क्षण में (यानी कम समय में) अपनी सारी चीज़ें बेच लेते हैं और जो खरीदना होता है, खरीद लेते हैं। लेकिन जौनपुर के प्रसंग में वर्णित समाज का यह ढाँचा मिथिला में भी था। "मैथिल समाज सामंतवादी आधार पर ही टिका हुआ था और मध्यकालीन सामंतवादी समाज के सारे दोष वहाँ विराजमान थे। समाज में मूलतः दो वर्गों के लोग थे और बेगार की प्रथा थी।...वास्तविकता यह थी कि मध्ययुग में ब्राह्मण बड़े-बड़े सामंत थे और वे जमीन दान देकर अपने अधीन छोटे-छोटे सामंत रखते थे।" (राधा कृष्ण चौधरी) उस समय तक जाति-प्रथा मिथिला में और भी मज़बूत हो गयी थी जिसका खास कारण था वहाँ राजा हरि सिंह देव के समय (सन 1324) से पंजी की प्रथा का प्रचलित होना। प्रो.चौधरी लिखते हैं कि "जातीय शुद्धि के नाम पर अथवा अपने पद को और ऊपर उठाने के निमित्त एक-एक व्यक्ति ने पच्चीस-पच्चीस विवाह करने शुरू कर दिए और इस तरह "बिकौआ" की प्रथा चल पड़ी। इस तरह पंजी प्रथा ने जाति-व्यवस्था और विवाह को और विकृत ही बनाया। विद्या और ज्ञान की भूमि होने के बावजूद मिथिला में भी धन ही सामाजिक

प्रतिष्ठा का मुख्य आधार था। जहाँ पच्चीस विवाह एक पुरुष करता था वहाँ स्त्रियों की दुर्दशा का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

लिखनावली में विद्यापति ने सामाजिक स्थिति का वर्णन किया है। उसके अध्ययन से पता चलता है कि राज्य से जुड़े लोगों में विलासिता व्याप्त थी और जनता में दरिद्रता। **कीर्तिलता** के एक कथन के उल्लेख से बताया जा चुका है कि राजा कभी-कभी दरिद्रों को दान दिया करते थे। "दान" सम्पन्नता और दरिद्रता की परस्पर विरोधी जीवन-स्थितियों के होने का प्रमाण है। समाज में उन लोगों का सम्मान बहुत था जो राज-दरबार से सम्पृक्त होते थे। गरीबों की हालत बहुत खराब थी। दासों को तो प्रतिदिन एक वक्त का आहार ही मिलता था। किसानों की हालत कुछ बेहतर थी। लेकिन किसी-किसी किसान को बैल बंधक रखना पड़ता था। समाज में सूदखोर महाजन थे, जो किसानों को कर्ज़ देकर फसल कटने के समय दो गुना वसूल कर लेते थे।

ज़ाहिर है कि विद्यापति-युगीन समाज वर्ग-विभाजित था। राजा और सामंत प्रभुत्व में थे। व्यापारी और महाजन भी सुखी-सम्पन्न थे। किसान, खेत मजदूर और दास शोषित वर्ग के अंग थे। सामाजिक विषमता और अंतर्विरोध का यह मुख्य रूप था। समाज में जात-पाँत थी ही। अन्य सामाजिक तबकों की स्थिति का उल्लेख पहले हो चुका है। यह सामाजिक स्थिति है, जो विद्यापति को प्रेरित और प्रभावित करती है, और अनेक रचनाओं में वे इसका चित्रण करते हैं। ध्यान देने की बात है कि यथार्थ-चित्रण से एक तरफ साहित्य की महिमा बढ़ती है तो दूसरी तरफ समाज को समझने का स्रोत प्राप्त होता है।

3.2.3 इतिहास

साहित्य के आधार पर इतिहास लिखने की पद्धति अपने देश में हाल में ही अपनाई गई है। लेकिन वास्तविकता यह है कि प्राचीन भारत का इतिहास भी पहले साहित्यिक कृतियों के आधार पर ही लिखा गया। बाद में इतिहास-लेखन के अन्य साधन उपलब्ध हुए तो साहित्य को आधार बनाने की प्रवृत्ति घट गई। अब फिर से इतिहास-लेखन में साहित्य को आधार बनाने की प्रवृत्ति बढ़ी है। जिस साहित्य में यथार्थ-चित्रण की प्रवृत्ति मिलती है, वही साहित्य खास तौर से इतिहास-लेखन का आधार बनता है। विद्यापति की कृतियों में **कीर्तिलता, कीर्तिपताका, लिखनावली** आदि में इतिहास संबंधी सामग्री मिलती है। लेकिन इन कृतियों की इतिहास संबंधी सामग्री में कितनी ऐतिहासिकता है, इसकी जाँच करना आवश्यक होता है। **कीर्तिलता, कीर्तिपताका, लिखनावली** में जो कथा या जो तथ्य वर्णित हैं, उनसे ऐतिहासिकता का पता चलता है। राजा कीर्ति सिंह और शिव सिंह ओइन वंश के थे, यह उल्लेख कथा को ऐतिहासिकता प्रदान करता है। यह वंश मिथिला में आज भी उपलब्ध है। दिल्ली के तुर्क बादशाह फिरोज़शाह मिथिला के भोगीस राय को भाई की तरह मानते थे। इससे भी कथा में ऐतिहासिकता आ जाती है। विद्यापति प्रायः फिरोज़शाह तुगलक और उसके कुछ बाद लोदी वंश के समय में भी थे। इसलिए वे स्वयं मिथिला की ऐतिहासिक कथा के प्रमाण बन गए लगते हैं।

कीर्तिपताका में मिथिला के राजा गणेश्वर सिंह और असलान का युद्ध फिर असलान के खिलाफ लड़ने के लिए कीर्ति सिंह के द्वारा सुलतान की मदद लेना ऐतिहासिक घटनाएं हैं। इसी तरह, **कीर्तिपताका** में राजा शिव सिंह और सुलतान का युद्ध भी कथा को ऐतिहासिकता प्रदान करता है। मिथिला के इतिहास से जुड़ी ये घटनाएं यद्यपि मध्यकालीन भारतीय इतिहास की मुख्य धारा से कुछ भिन्न लगती हैं, फिर भी मध्यकाल के इतिहास को समग्रता प्रदान करने की दृष्टि से **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की कथा का ऐतिहासिक महत्व है।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि कर्णाट वंश के अंतिम शासक हरिसिंह देव ने तीर भुक्ति राज्य ओइनवार वंश को सौंपा था। यही हरिसिंह देव हैं जिन्होंने तेरहवीं सदी में मिथिला में ब्राह्मणों के लिए पंजी का निर्माण कराया। **कीर्तिलता** की कथा बताती है कि कैसे कीर्ति सिंह राजा बने। विद्यापति ने भृंग-भृंगी संवाद के रूप में लिखित कथा में भृंगी से प्रश्न करवाया कि राजा कीर्ति सिंह किस वंश के थे और वे **स्वयं कौन थे!** इसी प्रश्न के उत्तर के रूप में **कीर्तिलता** की रचना हुई है। विद्यापति के बारे में ऐतिहासिक रूप से स्वीकृत है कि वे राजा शिवसिंह के दरबार में रहते थे। उनकी पदावली में भी बार-बार राजा शिवसिंह और उनकी रानी लखिमा देवी का जिक्र आता है, जिससे विद्यापति और राजा शिव सिंह के संबंध की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि मध्यकालीन भारत का इतिहास - राजनीति, सामाजिक या सांस्कृतिक - जिसने भी लिखा है, उसने मिथिला और विद्यापति की उपेक्षा की है। इसलिए ऐसे इतिहासकार **विद्यापति** और **कीर्तिलता** की ऐतिहासिकता के प्रमाण नहीं बन पाते। जब इतिहास-लेखन में क्षेत्रीय इतिहास का महत्व बढ़ा, तब ऐतिहासिक दृष्टि से **विद्यापति** और **कीर्तिलता, कीर्तिपताका** और **लिखनावली** जैसी उनकी कृतियों का भी महत्व बढ़ा। इस

NMDC-064

प्रसंग में प्रो.राधाकृष्ण चौधरी, डॉ. उपेन्द्र ठाकुर आदि के द्वारा मिथिला के इतिहास का अनुसंधान महत्वपूर्ण है। हिंदी के विद्वानों ने इस प्रसंग में जो काम किए हैं, वे भाषा के विकास और उसकी प्रकृति एवं साहित्यिक विवेचन तक सीमित है, वह काम डॉ.नामवर सिंह का हो या डॉ. शिवप्रसाद सिंह का या डॉ.वीरेन्द्र श्रीवास्तव का। इन विद्वानों से पहले डॉ.हरप्रसाद शास्त्री, डॉ.बाबू राम सक्सेना आदि के काम भी भाषावैज्ञानिक ही ज्यादा हैं। हाँ, हिंदी में डॉ.वासुदेवशरण अग्रवाल ने इतिहास की दृष्टि से भी विचार किया है। लेकिन इन सभी विद्वानों ने जिस दौर में काम किया, उस समय विद्यापति के अध्ययन के प्रसंग में मुख्य समस्या थी उनकी कृतियों का प्रामाणिक संस्करण तैयार करके प्रकाशित करना। मैथिली और संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान डॉ.उमेश मिश्र के सामने भी मुख्य समस्या यही थी कि कैसे प्रामाणिक पाठ तैयार किया जाए। इन सब सीमाओं के बावजूद सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि विद्यापति शिव सिंह के समय थे और **कीर्तिलता** एवं **कीर्तिपताका** की रचना का ऐतिहासिक आधार प्रामाणिक है।

इस अध्ययन से जो प्रमुख बिंदु उभर कर आए हैं उसपर एक दृष्टि डाल ली जाए :

- विद्यापति के युग में राजनीति धार्मिक प्रभाव से मुक्त हुई।
- मिथिला का समाज सामंतवादी था; आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निचले तबके के लोग राजनीतिक सत्ता के लाभ से वंचित थे। समाज वर्णों, जातियों और वर्गों में विभाजित था।
- **कीर्तिलता**, **कीर्तिपताका** और **लिखनावली** मध्यकालीन भारत के इतिहास लेखन में महत्वपूर्ण स्रोत बन सकते हैं।

विद्यापति की रचनाओं में उनका युग बोलता है। उनकी भाषा पर भी युग का पूरा प्रभाव है। आदिकाल में अपभ्रंश से मुक्त होने और देसी भाषाओं के उदय की प्रवृत्ति मिलती है। विद्यापति भी इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं। अतः उनकी रचनाओं में भी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है। उनका ''देसिल बयना'' और ''अवहट्ट'' इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। असल में **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** में विद्यापति की भाषा करवट लेती प्रतीत होती है और इस रूप में भाषा के माध्यम से भी कवि पुराने युग से मुक्ति और आने वाले युग के आगमन का संकेत दे रहा था।

3.3 विद्यापति की भाषा

विद्यापति की मातृभाषा और मिथिला की सामाजिक-सांस्कृतिक भाषा भी मैथिली ही थी। यों मिथिला में विद्वानों के बीच संस्कृत की भी प्रतिष्ठा थी। विद्यापति ने अपनी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना पदावली मैथिली में ही रची। मिथिला की विद्वत्परम्परा को मानकर उन्होंने संस्कृत में भी रचना की। लेकिन अवहट्ट में **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की रचना करने के पीछे यही बात प्रेरणा के रूप में काम कर रही होगी कि अपभ्रंश उस समय भी उत्तर भारत के राष्ट्रीय संदर्भ की भाषा थी और विद्यापति का रचनाकार केवल अपने क्षेत्र तक सीमित नहीं था।

3.3.1 जन भाषा का निर्माण

भाषा की दृष्टि से भी विद्यापति संक्रमण-काल में पड़ते हैं। अपभ्रंश का प्रभाव या अपभ्रंश में काव्य रचने की प्रवृत्ति लगभग समाप्त हो रही थी और आधुनिक आर्य भाषाओं का साहित्यिक उदय हो रहा था। भाषा, समाज और काव्य-सृजन के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया पर गौर करने से यह स्पष्ट होता है कि जब कोई भाषा काव्यात्मक गरिमा पा लेती है और उसका एक परिनिष्ठित रूप शास्त्रीय स्तर पा लेता है तो सामान्य जनता या कहें सामान्य जन-मानस के लिए वह रूप दुरूह होने लगता है। जन-चेतना का प्रवाह आमफहम भाषा के साथ आगे बढ़ता रहता है। सामान्य जन के चेतना-प्रवाह और परिनिष्ठित या रूढ़ काव्य-भाषा का अंतर्विरोध नए दौर के रचनाकारों के द्वारा रुढ़ि को तोड़कर और प्रवाह के आग्रह को स्वीकार करके ही हल किया जाता है। उस ऐतिहासिक सच्चाई का अनुभव उस दौर में भी होता है, जब विद्यापति रचना कर रहे थे। उसे हम निम्नलिखित उदाहरणों से समझें। अपभ्रंश की उपलब्ध पुस्तकों में **अद्दहमाण (या अब्दुल रहमान)** का **संदेशरासक** और **विद्यापति** रचित **कीर्तिलता** मुख्य हैं। **अद्दहमाण** कहते हैं -

> णहु रहइ बुध इकवित्तरेसि
> अबुहत्तणि अबु हई णहु पवेसि।
> जिण मुक्ख ण पंकिय मज्झयार

NMDC-064

तिह पुरउ पठिब्बउ सब्ब वार।

अर्थात "बुद्धिमान तो उस काव्य में मन नहीं लगाएंगे और जो अबुध (मूर्ख) हैं, उनका काव्य में प्रवेश कैसा? अर्थात वे उसमें आनंद ही क्यों लेंगे! हाँ, वास्तव में मेरा काव्य उन साधारण जनों के लिए है जो न मूर्ख हैं और न पंडित।"

इस कथन की व्याख्या करें तो स्पष्ट होता है कि काव्य के क्षेत्र में बुद्धिमान तो वे समझे जाते हैं, जो संस्कृत समझते थे, मूर्ख तो अनपढ़ और नासमझ लोग थे जो काव्य नहीं समझते थे। इन दोनों के बीच साधारण जन थे जो संस्कृत तो नहीं जानते थे, लेकिन जन-भाषा में रचित काव्य में रुचि लेते थे। ऐसे ही साधारण जनों के लिए अद्दहमाण ने अपभ्रंश में काव्य-रचना की। यही साधारण जन हैं जिनकी चेतना के प्रवाह के साथ विकसित भाषा रचनात्मकता की नई समस्या को हल करती है। इसी से मिलती-जुलती बात विद्यापति भी कहते हैं -

सक्कअ वाणी बुहअण भावइ पाइअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बयणा सब जन मिट्ठा, तें तैसन जंपउ अवहट्टा।।

अर्थात "संस्कृत वाणी को बुधजन (पंडित लोग) ही अच्छी तरह समझते हैं, प्राकृत भाषा के रस का मर्म कोई नहीं पाता है। देसी वचन (बोली) सब लोगों को मीठा लगता है, अतः वैसे अवहट्ट का कथन करता हूँ।"

भाषा और समाज के संबंध का संक्रमण यहाँ अच्छी तरह दिखाई पड़ता है। संस्कृत पंडितों तक सीमित रह गई थी और प्राकृत का मर्म तो कोई नहीं समझता था, क्योंकि पंडित तो उसकी उपेक्षा करते थे और आम जनता उसे समझ नहीं पाती थी। बोधगम्यता और आत्मीयता के कारण देसी वचन यानी गाँवों के लोगों की बोली तो सबको मीठी लगती है, । इसलिए विद्यापति अवहट्ट को देसी बोली के साथ मिलाकर उसमें रचना करते हैं। कवि का उद्देश्य रचना को अधिकाधिक प्रेषणीय बनाना है, इसीलिए वह पंडिताऊ भाषा को जनता की बोलचाल की भाषा के नज़दीक ले जाता है। भाषा की संक्रमणशीलता को इस तरह और ठीक से समझा जा सकता है कि अद्दहमाण की भाषा में बोधगम्यता की प्रवृत्ति होने के बावजूद अयोगात्मकता कम है। उनकी भाषा अपभ्रंश के उस रूप को लेकर चलती है जो "विभक्तिरहित प्रयोगों में या परसर्गों के प्रयोगों में या इसी प्रकार के अन्य प्रयोगों में स्वयम्भू और पुष्पदंत के अधिक निकट है। उसमें इनका विरल प्रयोग ही है, यहाँ तक कि **संदेशरासक** की भाषा को प्राकृताभास समझा जा सकता है। विद्यापति की अवहट्ट भाषा अयोगात्मकता में आधुनिक भारतीय भाषा हिंदी आदि के बहुत निकट आ गई है।" (वीरेन्द्र श्रीवास्तव - कीर्तिलता, पृ.३०) ध्यान दें संदेशरासक की भाषा पूरी तरह प्राकृत नहीं, बल्कि "प्राकृताभास" है यानी अपभ्रंश और प्राकृत का मिश्रण उसमें है और **कीर्तिलता** की भाषा अवहट्ट में देसी भाषा का मिश्रण है। ऐसा इसलिए संभव हो पाया कि इस अवहट्ट का स्वरूप अधिक अयोगात्मक है, जो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की प्रकृति के निकट है। यह विशेषता केवल **कीर्तिलता** में नहीं, बल्कि **कीर्तिपताका** की भाषा में भी है। योगात्मकता से अयोगात्मकता की ओर या संश्लिष्टता से विश्लिष्टता की ओर भाषा का बढ़ना भाषा के विकास की ऐसी प्रक्रिया है जो भाषा को जनता की दृष्टि से सुगमता और सहजता की ओर ले जाती है। भाषा के विकास की इस प्रक्रिया में वाक्य के सभी अंग एक-दूसरे से अलग होते जाते हैं, शब्दों में सामासिकता की प्रवृत्ति लगातार घटती चली जाती है। यही है अयोगात्मकता या विश्लिष्टता। इससे भाषा में सुगमता आती है। इसके विपरीत, संस्कृत में सामासिकता प्रधान होती है। कभी-कभी तो पूरा वाक्य जुड़कर एक शब्द बन जाता है। इससे भाषा दुर्बोध हो जाती है और संधि एवं समास के नियम ही नहीं, उनके विश्लेषण में जो सिद्ध होता है, वही अर्थ समझ पाता है। भाषा के प्राचीन और आधुनिक रूपों की प्रकृति में यह फर्क वास्तव में गुणात्मक फर्क है। इस दृष्टि से विद्यापति के अवहट्ट की ऐतिहासिक विशेषता समझी जा सकती है।

विद्यापति की अवहट्ट की विशेषताओं को समझने के प्रसंग में उसके स्वरूप पर विचार करना जरूरी है। इस सिलसिले में इतना उल्लेख कर देना भी जरूरी है कि यह समझ गलत है कि संस्कृत के बाद प्राकृत और प्राकृत के बाद अपभ्रंश का विकास एवं प्रचलन हुआ। प्राकृत और अपभ्रंश भी पुरानी भाषाएं हैं। "शब्द सागर" में अपभ्रंश को "प्राकृत का परवर्ती रूप" कहा गया है। लेकिन भाषा के ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि "शब्द सागर" की समझ गलत है। अपभ्रंश का पहला उल्लेख आचार्य पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है। पतंजलि के महाभाष्य का समय विद्वानों के द्वारा प्रायः 150 ईस्वी पूर्व माना जाता है। इस प्रकार अपभ्रंश का अस्तित्व जनता के बीच एक भाषा के रूप में प्राचीन काल में भी था, भले ही उस समय उसमें साहित्य नहीं रचा जा रहा हो। यों कुछ विद्वान यह समझाना चाहते हैं कि पतंजलि ने "अपभ्रंश" शब्द का प्रयोग भाषा के नाम के अर्थ में नहीं, बल्कि

शब्दों के विकारी रूप के अर्थ में किया है। यदि इस व्याख्या को मान लिया जाए, तब भी यह कहा जा सकता है कि विकार यानी परिवर्तन की प्रक्रिया में अपभ्रंश का स्वरूप जन-भाषा के रूप में विकसित हुआ और आम जनता का सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव जब बढ़ा तब उसमें काव्य-सृजन भी होने लगा। इस विकासक्रम में लम्बा समय लगा है।

कीर्तिलता और **कीर्तिपताका** में अवहट्ट का जो रूप मिलता है, उसे डॉ.बाबू राम सक्सेना और शिवनंदन ठाकुर ने **मिथिलापभ्रंश** कहा है। इसका आधार संभवतः यह है कि अवहट्ट पर विद्यापति ने मैथिली का रंग चढ़ाने की कोशिश की है। डॉ. बाबू राम सक्सेना के सम्पादन में 1929 में **कीर्तिलता** का प्रथम प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा किया गया। उसी की भूमिका में डॉ.सक्सेना ने कहा कि विद्यापति की अवहट्ट मध्यकालीन प्राकृत और आधुनिक मैथिली के बीच की चीज़ है। उन्होंने **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की भाषा को अपभ्रष्ट रूप कहकर मैथिली अपभ्रंश करार दिया। लेकिन यह मत विद्वानों के बीच मान्य नहीं है। इस प्रसंग में डॉ.नामवर सिंह का यह कथन विचारणीय है - **कीर्तिलता** की भाषा को **वर्ण रत्नाकर** की भाषा के सम्मुख रखकर देखने से स्पष्ट होता है कि **वर्ण रत्नाकर** में बंगलापन अधिक है (भले ही वह अनुलेखन पद्धति के कारण आ गया हो) और **कीर्तिलता** में मैथिली-भोजपुरी-अवधी आदि के आरंभिक बीज। (हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, नामवर सिंह प्रथम संस्करण, पृ.58-59) कहने का मतलब यह कि विद्यापति की अवहट्ट पर मध्यदेश और पूरब की तत्कालीन बोलियों का मिश्रित प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसपर केवल मैथिली का प्रभाव नहीं है। वास्तविकता यह है कि **कीर्तिलता** की भाषा पर संस्कृत का भी प्रभाव है।

डॉ. शिव प्रसाद सिंह की भी मान्यता है कि विद्यापति की अवहट्ट को मैथिली अपभ्रंश या मिथिलापभ्रंश कहना ठीक नहीं है। डॉ.सिंह का कथन इस प्रकार है - ''कीर्तिलता की भाषा पर मैथिली का रंग अवश्य है, परंतु उसके मूल में शौरसेनी की प्रवृत्तियाँ हैं, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है।''

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और महापंडित राहुल सांकृत्यायन के विचारों का भी सहारा लेते हुए डॉ.शिव प्रसाद सिंह का निष्कर्ष यह है - **इन तमाम तर्क-वितर्कों और वाद-विवाद को मिटा देने के लिए यह उचित जान पड़ता है कि इस भाषा को परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट नाम उत्तरी भारत की संक्रान्तिकालीन भाषा का एकमात्र उपयुक्त नाम हो सकता है।**

3.3.2 भाषागत विशेषताएँ

अवहट्ट में **कीर्तिलता** की रचना करने के प्रसंग में विद्यापति का जो भाषागत दृष्टिकोण रहा है, उसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। उनके सामने सामान्य जन के लिए भाषा को बोधगम्य बनाना था, इसीलिए अवहट्ट को भी उन्होंने ''देसिल बयना'' यानी मैथिली का संस्पर्श अच्छी तरह दिया है। वे संस्कृत के भी निष्णात विद्वान थे, इसलिए संस्कृत का भी प्रभाव उनकी अवहट्ट पर है। **कीर्तिलता** का प्रारंभ तो संस्कृत छंद से ही किया गया है। उसके पीछे शायद यह प्रवृत्ति काम कर रही-होगी कि विद्वानों के बीच प्रतिष्ठा के लिए संस्कृत-ज्ञान का परिचय देना जरूरी है। लेकिन उनकी संस्कृत ऐसी है कि संस्कृत का साधारण ज्ञान रखने वाला भी उसे समझ सकता है। भाषा को सरलता की ओर ले जाने की प्रवृत्ति यहाँ भी रही है। राजा कीर्ति सिंह के जीवन-प्रसंग के आधार पर रचे गए काव्य का नाम **कीर्तिलता** रखते हुए विद्यापति का ध्यान कहाँ था, यह निम्नलिखित प्रारंभिक पंक्तियों से ही स्पष्ट हो जाता है -

> **तिहुअण खेत्तहि कांइ तनु कित्तिवल्लि पसरेइ।**
> **अक्खर खंभारम्भ जउ मंचा बंधि न देइ।।**

अर्थात यदि अक्षर रूपी खम्भे को आरंभ में (काव्य को) बाँध न दिया जाए तो त्रिभुवन के क्षेत्र में उसकी कीर्ति की लता कैसे पसरे?

गाँव में किसान शाक-सब्जी की लता के फैलने के लिए बाँस-बल्ली से मंच का निर्माण करते हैं। विद्यापति ने अपने काव्य की लता के पसरने के लिए भाषा का मंच खड़ा किया और इसके लिए वे अक्षर-अक्षर पर ध्यान देते हैं। विद्यापति की भाषा-चेतना इस पद के विश्लेषण से भी स्पष्ट होती है। संस्कृत कीर्ति यहाँ ''कित्ति'' के रूप में और संस्कृत ''प्रसरति'' अथवा ''प्रसरित'' या ''प्रसरेती'' यहाँ ''पसरेइ'' के रूप में है ही। अक्षर तो अक्खर के रूप में है ही। ध्यान खींचता है ''खम्भारंभ'' शब्द। स्तम्भ ''खम्भ'' बन गया है, ''आरंभ'' तत्सम रूप में ही मौजूद है। संस्कृत के विद्वान तत्सम और तद्भव में संधि नहीं मानते; लेकिन विद्यापति ने व्याकरण के नियम की उपेक्षा करके ''खंभारंभ'' शब्द

बनाकर भाषा के विकास को नई गति दी है। एक नया आनंद आता है यह देखकर कि विद्यापति ने अपने नाम का भी अवहट्ट रूप बना दिया, जब वे अपनी भाषा के नए रूप पर गर्व करते हैं -

बालचंद विज्जावइ भासा दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा।
सो परमेसर सेहर सोइइ, इणच्चइ णाअर मन मोहइ।।

विद्यापति "विज्जावइ" हो गए हैं, जब कि ऐसा करना जरूरी नहीं था। दूसरी पंक्ति में "शेखर" "सेहर" बन गया है और निश्चय "णिच्चइ" के रूप में आया है। नागर णाअर हो गया है। विद्यापति के इस तरह के प्रयोगों का अध्ययन भारतीय आर्यभाषाओं के आपसी संबंध और आधुनिक आर्यभाषा के विकास के एक महत्वपूर्ण मध्यकालीन पड़ाव का ज्ञान देता है। इस दृष्टि से विद्यापति की "देसिल बयना" मिश्रित अवहट्ट भाषा का ऐतिहासिक महत्व है। **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** का महत्व इस दृष्टि से भी बहुत अधिक है। यह ध्यान देने लायक है कि मैथिली कवि विद्यापति, जिनके बारे में कभी यह बहस थी कि वे मैथिली कवि हैं या बंगाली, वे ही **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की भाषा के माध्यम से हिंदी भाषा के विकासक्रम को समझने का आधार प्रस्तुत करते हैं और उससे मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा और आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का संबंध समझ में आता है।

विद्यापति की अवहट्ट का भाषागत पाट या यह कहें कि अक्षर का ठाठ (मंच) इतना विस्तृत है कि उसमें राजस्थानी का भी प्रवेश हो गया है। राजस्थानी में मूर्द्धन्य "ण" के प्रयोग का बाहुल्य रहता है। विद्यापति के अवहट्ट में बाहुल्य तो नहीं, लेकिन अनेक शब्दों में "ण" को जगह मिल गयी है, जो पूर्वी प्रयोग नहीं है, मैथिली या हिंदी में तो यह प्रवृत्ति कतई नहीं है। "णिच्चइ", "णाअर" आदि पश्चिमी प्रयोग के प्रभाव के सबूत हैं।

संस्कृत, मैथिली और अवहट्ट का मिश्रण **कीर्तिलता** की भाषा में अनेक पदों में मिलता है। लेकिन निम्नलिखित पंक्तियों में उपर्युक्त मिश्रण का विलक्षण दृष्टांत मिलता है -

मध्याहन करि वेला संमई साज, सकल पृथ्वी चक्र करो वस्तु
बिकाए आए राज मानुसकरी पीसि बर आगे आंग डगर
आनक तिलक आनका लाग पात्रहूतह परस्त्रीक वलआ माँग।
ब्राह्मणक यज्ञोपवीत चांडाल का आ गल ।
वेश्यह्नि पयोधरे जतिहि क हृदय चूर ।
धन संचरे घोल हाथि हति बापर चूरि जाथि।
आवर्त्त विवर्त्त रोलहो नगर नहि नर समुद्दओ।।

यहाँ मध्याह्न, वेला, सकल, पृथ्वीचक्र, वस्तु, परस्त्री, ब्राह्मण, यज्ञोपवीत, चांडाल, वेश्या, आवर्त्त, विवर्त्त आदि शब्द तत्सम हैं। लेकिन इन्हें अन्य स्रोतों से आए शब्दों के साथ वाक्य में इस प्रकार गुम्फित किया गया है कि इनका तत्सम होना पाठकों को महसूस नहीं होता। एक तो ये शब्द संस्कृत होते हुए भी प्रचलित शब्द हैं, दूसरे भाषा में क्रिया रूपों के प्रयोग के कारण सुगमता आ गई है। "बिकाए आए" क्रिया युग्म मैथिली और हिंदी के मेल से बने हैं। "बिकाए" मैथिली है, जिसका अर्थ "बिकने के लिए" और "आए" तो खड़ी बोली की क्रिया "आना" का भूतकालिक रूप है। ये विलक्षण रचनात्मक भाषा प्रयोग का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। "आनक तिलक" में "आनक" ठेठ मैथिली प्रयोग है जिसका अर्थ है - अन्य का। इस पद में "का" के लिए मैथिली "क" का प्रयोग अनेक जगह है।

कीर्तिलता की भाषा में मैथिली के प्रवेश व प्रभाव का एक उदाहरण ध्यान देने योग्य है -

हिन्दू तुलुक मिलल वास
एकक धम्मे ओकाक हास।
कतहु बाँग, कतहु वेद
कतहु विसमिल कतहु छेद
कतहु ओझा कतहु खोजा
कतहु नकत क़तहु रोजा
कतहु तम्बारू कतहु कूजा
कतहु नीमाज कतहु पूजा
कतहु तुलुका बल कर
बाट जाएते बेगार धर।।

NMDC-064

जिस संक्रमणकाल में विद्यापति हुए, उसका भाषागत प्रतिफलन यहाँ हम देख सकते हैं। यों उपर्युक्त पंक्तियों में "कतहु" में हर पंक्ति के आने और अंत में "जाएते" क्रिया के प्रयोग में मैथिली का प्रभुत्व है, लेकिन तुलुक (तुर्क), बाँग, बिसमिल, खोजा, रोजा, नीमाज (नमाज) आदि फारसी शब्द अभिव्यक्ति की नयी आवश्यकता की पूर्ति कर हिंदी के शब्द-भंडार में वृद्धि कर रहे हैं। एक और प्रयोग यहाँ ध्यान खींचता है "नकत" जो तत्सम नक्षत्र और तद्भव नखत के ही फारसी उच्चारण के प्रभाव से बना शब्द है। **कीर्तिलता** की भाषा में फारसी के भी शब्द काफी मात्रा में पाए जाते हैं। दरवेस, मखदूम, हुकुम जैसे शब्द यथा-स्थान आते रहे हैं।

कीर्तिपताका की रचना भी अवहट्ट में ही की गई है, लेकिन विद्यापति के व्यक्तित्व के सांस्कृतिक स्वरूप का प्रभाव **कीर्तिपताका** की भाषा में अनेक स्थलों पर नयापन लिए हुए है। एक युवती के सौंदर्य का वर्णन देखिए -

दीरघ केश कपाल कुटिल कोमल घनस
दप्पमत्त कन्दप्प, धनु जनि बन्धिलु चामर।
निष्कलंक ससि बिम्ब सरिस सुन्दर मुखमण्डल,
पिअ अनुराग कहन्त सबन डोलबे कुण्डल।
गुरु पीन पयोधर भार भरे मत्त मतंगज मंदगति,
संसार सार सिंगार रस कमल रुचि तुल हरइ जुवति।

इस पद की भाषा संस्कृत प्रधान है। ऐसा लगता है कि पद के संदर्भ के अनुसार यहाँ कवि जयदेव से प्रभावित या प्रेरित हैं। लेकिन संस्कृत के "दीर्घ" "दीरघ", "दर्प" दप्प, "कन्दर्प" "कंदप्प", "शृंगार" सिंगार बनकर भाषा की विकास-प्रक्रिया का परिचय दे रहे हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विद्यापति की भाषा सामाजिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से सामासिक संस्कृति के विकास का भाषाई स्वरूप प्रस्तुत करती है। यह विद्यापति की अपनी विशिष्टता है। वे शब्दों के चयन में निःसंकोच इस सामासिकता का इज़हार करते हैं। क्रिया रूपों के प्रयोग में भी स्वच्छंदता बरतते हैं। परसर्गों का स्वतंत्र विभक्ति चिह्नों के रूप में प्रयोग करने की जो प्रवृत्ति **कीर्तिलता** में है, वह विद्यापति की अवहट्ट को आधुनिक भारतीय भाषा के विकास से जोड़ देती है। सामान्य जन को ध्यान में रखने और उनके बीच रहने के कारण बोलचाल की संज्ञाएं, क्रियाएं आदि धड़ल्ले से प्रयुक्त हुई है। आज के पाठकों और रचनाकारों के लिए प्रासंगिक बातें हैं विद्यापति के रचनात्मक प्रयोगों से निकलते हुए सिद्धांत या नियम। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि रचनाकार को विद्यापति के समान समाज की ऐतिहासिक गतिशीलता, जनता की मानसिकता, स्थानिकता के साथ ही व्यापक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य आदि को ध्यान में रखना चाहिए।

3.4 सारांश

विद्यापति संक्रमण काल के कवि हैं। विद्यापति की रचनाओं पर इस संक्रमण का प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने चरित काव्य भी लिखे, शृंगार के पद भी लिखे और भक्ति में भी लीन हुए। संक्रमण काल के कवि होने के नाते विद्यापति का महत्व और भी बढ़ जाता है। उनमें अवसान और उदित होती प्रवृत्तियों का अद्भुत संगम दिखाई पड़ता है।

विद्यापति के समय में भारत में आम तौर पर दिल्ली सल्तनत का शासन था। उनके जीवन-काल में दिल्ली में तुगलक वंश और लोदी वंश का शासन रहा। एक सामान्य धारणा है कि भारतीय इतिहास के मध्यकाल में धर्म राजनीति की नियामक शक्ति हो गया था। **कीर्तिलता** की कथा इस धारणा को झुठलाती है। **कीर्तिलता** की कथा से जो दृष्टिकोण सामने आता है उससे लगता है कि राजनीति धार्मिक प्रभाव से मुक्त हो रही थी। आज के माहौल में विद्यापति की **कीर्तिलता** और भी प्रासंगिक हो उठी है।

विद्यापति-युगीन समाज सामंती समाज था। समाज वर्ण, जाति और वर्ग में विभाजित था। आर्थिक और सामाजिक रूप से विपन्न लोगों का दमन और शोषण होता था। राजा, महाजन और व्यापारी सुखी थे। **कीर्तिलता** में इस तथ्य का उल्लेख है कि हिंदू-मुसलमान साथ-साथ रहते थे। हिंदू समाज में जाति व्यवस्था और विवाह पद्धति और भी विकृत हुई। एक तरफ धन था दूसरी ओर गरीबी। समाज में आर्थिक विषमता बहुत गहरी थी। दास की स्थिति बहुत खराब थी। किसानों की हालत कुछ बेहतर थी।

विद्यापति की रचनाएँ खासकर **कीर्तिलता, कीर्तिपताका** और **लिखनावली** अपने समय के जीवंत दस्तावेज़ हैं। मध्ययुगीन इतिहास लिखने में इनका सार्थक उपयोग किया जा सकता है।

मैथिल कोकिल विद्यापति ने जनभाषा को साहित्यिक गरिमा प्रदान की। यह भी सही है कि साहित्यिक भाषा को वे जनभाषा के करीब ले गए। उनकी भाषा पर भी संक्रमण का प्रभाव है। इसलिए उनकी भाषा में नूतन और अभिनव प्रयोग मिलते हैं। उनकी भाषा भारतीय आर्य भाषा की अगुआ है। विद्यापति की भाषा उनकी काव्य प्रतिभा का उत्कृष्ट नमूना है। उसमें ऐतिहासिक गतिशीलता है, जनता के बोल हैं, स्थानीयता है। इसके साथ-साथ उनकी भाषा व्यापक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक संदर्भ को समेट कर चलती है।

अगली इकाई में हम **विद्यापति पदावली** का अध्ययन करते हुए उनके काव्य-व्यक्तित्व का विशिष्ट परिचय प्राप्त करेंगे।

3.5 अभ्यास

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर 200 शब्दों में दीजिए :

1. आज के संदर्भ में विद्यापति के राजनैतिक दृष्टिकोण का मूल्यांकन कीजिए।
2. विद्यापति की रचनाएं इतिहास का दस्तावेज़ किस प्रकार बन सकती हैं? सोदाहरण उत्तर दीजिए।
3. विद्यापति की भाषा की विशेषताओं और महत्व का विवेचन कीजिए।

इकाई 4 गीतिकाव्य के रूप में विद्यापति पदावली

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 गीतिकाव्य और विद्यापति
4.3 गीतिकाव्य के रूप में विद्यापति पदावली की विशेषताएँ
4.4 विद्यापति पदावली में भक्ति और शृंगार का द्वन्द्व
4.5 विद्यापति पदावली की भाषा
4.6 परवर्ती काव्यधारा में विद्यापति का प्रभाव
4.7 सारांश
4.8 अभ्यास/प्रश्न

4.1 उद्देश्य

पिछली इकाई (इकाई संख्या-3)में आप 'विद्यापति और उनका युग' का अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई में हम **विद्यापति पदावली** की प्रमुख विशेषताओं की जानकारी प्राप्त करने जा रहे हैं। इस इकाई को पढ़कर आप :

- गीतिकाव्य के रूप में **विद्यापति पदावली** की विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे,
- **विद्यापति पदावली** की भाषा पर विचार कर सकेंगे,
- परवर्ती काव्यधारा पर **विद्यापति** के प्रभाव का मूल्यांकन कर सकेंगे

4.1 प्रस्तावना

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं "लीला के पद कब लिखे जाने लगे - यह भी कुछ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता, किन्तु दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में मात्रिक छन्दों में श्रीकृष्णलीला के गाने की प्रथा चल पड़ी थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। जयदेव का **गीतगोविन्द** इसी प्रकार के मात्रिक छन्दों के पद में लिखा गया था। .....जयदेव के बाद उसी प्रकार की पदावली बंगाल के चण्डीदास और मिथिला के विद्यापति नामक कवियों ने लिखी।......जिस प्रकार के पद बंगाल और उड़ीसा में प्रचलित थे उसी प्रकार के पद सुदूर पश्चिम में भी प्रचलित थे। अर्थात पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में ऐसे पद व्याप्त थे।" (हिंदी साहित्य का आदिकाल, पंचम व्याख्यान, पृ0 109) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह मत आपके सामने रखने का मकसद यह है कि आप यह जान लें कि विद्यापति जिस समय **पदावली** की रचना कर रहे थे उस समय उसका अखिल भारतीय स्वरूप मौजूद था। हिंदी में और खासकर मैथिली में विद्यापति गीतिकाव्य परंपरा के प्रणेता के रूप में उभरते हैं।

लीलागान की यह परंपरा लोक मानस में मौजूद थी। इसीलिए इनमें जनमानस और जन भावना की सरल, सहज और अविरल अभिव्यक्ति हुई है। विद्यापति की पदावली में प्रेम भी है और भक्ति भी, शृंगार भी है और आध्यात्मिकता भी।

पदावली के कारण ही विद्यापति मैथिल कोकिल कहलाए। उन्होंने जन भाषा मैथिली में काव्य रचना की। विद्यापति जन कवि थे। उनके जन सरोकार, जनचेतना, भावनात्मक उत्कर्ष तथा अनुभूति की सूक्ष्मता का परिचय उनकी **पदावली** ही देती है।

पदावली श्रेष्ठ गीतिकाव्य है। इनमें भावों की लयात्मक गति के साथ-साथ काव्य और संगीत का अनूठा सामंजस्य है। उनके असंख्य गीत लोककंठ में बस गए हैं। उनका यह काव्य लोकसंस्कृति से गहरे रूप से जुड़ा हुआ है। इसमें जन-जीवन की सामान्य सच्चाई प्रस्फुटित हुई है।

बड़ा कवि अनुकरणीय होता है। उससे उसके युग के कवि प्रभावित होते हैं। विद्यापति से भी गोविन्द दास, हरिदास आदि मैथिली के कवि प्रभावित हुए। सूरदास के लीलापदों पर भी विद्यापति के गीतों का प्रभाव स्पष्ट है। यही नहीं निराला के गीतों पर भी विद्यापति की गीतात्मकता का प्रभाव देखा जा

सकता है। बंगाल का ''ब्रजबूलि'' असम का ''वरगीत'' तथा ''अंकियानाट'' पर विद्यापति के गीतों की स्पष्ट छाप है। यही नहीं नेपाल के कुछ कवि भी विद्यापति से प्रभावित हुए।

इस इकाई में हम इन्हीं बिन्दुओं पर विचार करेंगे।

4.2 गीतिकाव्य और विद्यापति

साहित्य और काव्य के अन्य उपभेदों की तरह ही गीतिकाव्य की भी कोई सर्वमान्य परिभाषा स्थिर करना कठिन है। पर कई आचार्यों ने जो अपने अपने अभिमत प्रकट किए हैं उस आधार पर गीतिकाव्य की जो कुछ विशेषताएँ तय होती हैं, वे हैं : 1. मुक्तक पद, 2. गेयता, 3. भावना की तीव्र अभिव्यक्ति तथा 4. घटना प्रवाह की त्वरा। अर्थात गीतवाद्यों के साथ गाया जाने वाला छन्दबद्ध काव्य गीतिकाव्य होगा। लेकिन यह भी ध्यान में रखना है कि एक श्रेष्ठ कलाकार इतिहास ग्रंथ के पाठ को भी वाद्य यंत्र के साथ गा देंगे, वह गीतिकाव्य नहीं होगा. उसमें भावनात्मक अनुभूति का चित्रण भी होना चाहिए। और वह भी इकहरी अनुभूति या स्थिति का चित्रण। अर्थात ऐसी भावनात्मक अनुभूति जिसमें संक्षिप्तता और मानवीय भावनाओं के रंग और गति हों। संक्षिप्तता इसका बड़ा ही आवश्यक बंध है। गीति-वाद्य के साथ गाया जाने वाला महाकाव्य, गीतिकाव्य नहीं कहलाएगा। इन दो शर्तों के साथ त्वरा अर्थात शीघ्रता भी बहुत आवश्यक है। घटना प्रवाह की त्वरा। शीघ्रता बहुत अच्छी चीज नहीं है। पर अत्यंत संक्षिप्त भावना की अभिव्यक्ति होने के कारण गीतिकाव्य के लिए त्वरा बहुत आवश्यक शर्त हो जाती है। हीगेल ने गीतिकाव्य की दो आवश्यक शर्तें बताई हैं। उनके अनुसार गीतिकाव्य के पूरे छन्द में सम्बद्धता अनिवार्य है। अर्थात भावाकुलता और प्रभाव की समान स्थिति का अटूट निर्वाह होना चाहिए। इसके बिना प्रभावान्विति क्षरित होती है। इनकी दूसरी शर्त है, कथन और घटना-प्रवाह में त्वरित परिवर्तन की स्थिति। अर्थात नई बात कहकर उसे तुरंत पूर्वकथित हिस्से से जोड़ देना और इससे रसोद्रेक उत्पन्न कर प्रभाव को उत्कर्ष देना, एक सफल गीतिकार का कौशल ही है।

गीतिकाव्य की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए डॉ० शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं, *''काव्य की अन्य विधाओं की तरह गीति काव्य चूँकि सचेत बुद्धि व्यापार से उत्पन्न वस्तु नहीं है, इसलिए आदिम मानव के अति पुरातन और आरम्भिक भावों के साथ ही गीतिकाव्य का जन्म हुआ। हालांकि यह कहना कठिन है कि गीतिकाव्य के आविर्भाव का निश्चित काल क्या है, किन्तु इतना तो सहज अनुमेय है कि संवेगों की तीव्रता और उद्वेलन की सामान्य परिस्थितियों में भावाकुल अभिव्यक्ति ने स्वरों का रूप लिया - ऐसे शब्द और अर्थ तथा उनकी पुनरावृत्ति - यही गीति काव्य है।''* (विद्यापति, पृ०191)

वैदिक काल से पूर्व की कोई प्रामाणिक जानकारी न होने की स्थिति में हम मान सकते हैं कि भारतीय गीतिकाव्य का आरंभ वैदिक युग से हुआ। वैदिक गीतियों में गीतकाव्य का स्वर मुखरित हुआ है। वैदिक ऋचाओं, भक्तिपरक स्तुतियों, समूहश्रम के समय श्रम की कठोरता की उपेक्षा और उसे भुलाने के निमित्त गाए जाने वाले समूह गीतों, वीर गाथाओं , प्रेमाख्यानों से होते हुए गीति यहाँ तक आ पहुँची कि मानव मन की अत्यंत कोमल भावना, एकान्त क्षण का मानसिक उद्वेग, मनुष्य की हार्दिक विह्वलता - सबके सब यहाँ व्यक्त होने लगे। हिन्दी गीतिकाव्य के पहले रचनाकार विद्यापति हैं। विद्यापति पदावली लीलागा न की परंपरा में पड़ती है। लीलागान की परंपरा लोकमानस में व्याप्त थी। इसका प्रमाण जयदेव का गीतगोविन्द है। बंगाल, उड़ीसा, कश्मीर में श्रीकृष्ण लीला के गाने का प्रचलन था। हिंदी में सर्वप्रथम विद्यापति ने इस प्रकार के गीतों की रचना की। उनकी पदावली जयदेव के गीतगोविन्द से प्रभावित है।

विद्यापति ने गीतिकाव्य के रूप में पदावली की रचना मुक्तक शैली में सफलतापूर्वक की। इसमें आए भाव अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र हैं। गीतिकाव्य में भावनाओं की अभिव्यक्ति की प्रमुखता होती है। **विद्यापति पदावली** में राधाकृष्ण के व्यक्तिगत प्रेम का सूक्ष्म अंकन हुआ है। संगीतात्मकता और कोमल कांत पदावली के लिए तो विद्यापति की पदावली प्रसिद्ध है। उनकी कविता में काव्य और संगीत का अद्भुत मेल हुआ है। **विद्यापति पदावली** के गेय तत्व और काव्यत्व इस कदर एक दूसरे में घुलमिल गए हैं कि उन्हें एक-दूसरे से अलग करना मुश्किल प्रतीत होता है। भावों की तीव्र अभिव्यक्ति और संक्षिप्तता विद्यापति के गीतों की विशेषता है। ये सब तत्व मिलकर विद्यापति पदावली को एक श्रेष्ठ गीतिकाव्य बनाते हैं।

महाकवि विद्यापति के जन सरोकार, जनचेतना, भावनात्मक उत्कर्ष, अनुभूति की सूक्ष्मता का परिचय सही अर्थों में इनकी पदावली ही देती है, जो लोकभाषा में लिखी गयी हैं। इनकी संस्कृत रचनाएँ तो इनके पाण्डित्य की द्योतक हैं। पदावली की रचनाएं मोटे तौर पर दो तरह की हैं - एक भक्तिपरक और

NMDC-064

दूसरी प्रेमपरक। भक्तिपरक रचनाओं के आधार पर विद्वानों में इन्हें शैव, शाक्त, वैष्णव आदि तरह-तरह के सम्प्रदाय में बैठाने का मतभेद चलता रहा है। शृंगारिक रचनाओं में भी इनके फलक काफी विस्तृत हैं। इन सारी स्थितियों के साथ जो एक विशेषता सभी जगह उपस्थित है वह है इन रचनाओं की गीतिमयता। विद्वानों की बैठक से लेकर चूल्हे-चौके तक, गृहस्थों की मंडली से लेकर साधुओं के समुदाय तक, भक्तों-पुजारियों से लेकर प्रेमी-प्रेमिका के प्रणय तक विद्यापति के गीत प्रसिद्ध, प्रशंसित और मनोहारी हैं। इन गीतों में शब्द और छंद पर कवि की पकड़ बेजोड़ है। इन रचनाओं में जीवन की अनुभूति है। इन गीतों को पढ़कर ऐसा लगता है कि कवि को संगीतशास्त्र का अच्छा ज्ञान था।

गीतकाव्य को व्याख्यायित करते हुए प्रो० मैनेजर पांडेय लिखते हैं, *"गीतकाव्य व्यक्ति के संवेदनशील चित्त में रूपायित भावनाओं का आवेगमय लयात्मक सहज प्रकाशन है। भावनाओं की तीव्र आत्मानुभूति गीतकाव्य का प्राण है और लयात्मक निश्छल अभिव्यक्ति उसका सार्थक रूप। गीतकाव्य में कवि के व्यक्ति चित्त और लोकचित्त का एकात्म्य होना जरूरी होता है।"* (भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, पृ० 281) इस आलोक में यदि विद्यापति के गीतों का अनुशीलन किया जाए तो साफ-साफ दिखता है कि यहाँ कवि का जीवनानुभव आम जनता का अनुभव बनकर उतर आया है।

सपने देखल हरि, गेलाहुं पुलकें पुरि
जागल कुसुम सरासन रे।
ताहि अवसर गोरि नीन्द मांगल मोरि,
मनहि मलिन भेल वासन रे।
की सखि पओलह सुतलि जगओलह
सपनेहुं संग छड़ओलह रे।

विरह में व्याकुल नायिका नींद में सोई हुई है। स्वप्न में अपने प्रिय (कृष्ण) से मिलकर पुलकित है। कामदेव उसके अंग-अंग में जग उठा है। पर ऐसे ही अवसर पर राधा की सखि उसे जगा देती है। एक विरहिणी की इस दारुण दशा को विद्यापति ने अपनी उक्त पंक्तियों में व्यक्त किया है। नायिका अपनी सखि को उलाहना देती है कि सपने में भी मुझे तुमने अपने प्रिय से मन भर नहीं मिलने दिया। मेरा यह सुख छीनकर तुम्हें क्या मिला। ..... यह दशा केवल विद्यापति की राधा की ही नहीं, विरह की आग में झुलसती किसी भी नायिका की हो सकती है। नारी मन की इस व्यथा को राधा के द्वारा व्यक्त करते हुए महाकवि ने आवेगमय भावनाओं का जिस लयात्मकता के साथ चित्रण किया है, उसे सिर्फ महसूस किया जा सकता है।

पाठ के इस अंश में गीतिकाव्य की विकास परम्परा के मद्देनजर महाकवि विद्यापति की गीति शैली का स्पर्श मात्र हमें मिला। अगले अंश में इसे हम और विस्तार से समझ पाने का प्रयास करेंगे।

4.3 गीतिकाव्य के रूप में विद्यापति पदावली की विशेषताएँ

विद्यापति पदावली में तीन प्रकार के पद हैं

1. राधा-कृष्ण सम्बंधी पद
2. शिव, विष्णु, गंगा, जानकी, दुर्गा आदि के स्तुतिपरक पद
3. आश्रयदाता राजाओं की स्तुति भरे पद

राधा-कृष्ण संबंधी पदों में शृंगार रस की प्रधानता है। यहाँ रीतिकालीन काव्य के सारे लक्षण मिल जाएंगे, यथा रति क्रीड़ा, नखशिख वर्णन, संयोग वर्णन, विरह वर्णन आदि। दूसरे भाग में शिव, दुर्गा, विष्णु आदि के स्तुतिपरक गीतों में विद्यापति का भक्ति भाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। तीसरे प्रकार के पदों में विद्यापति ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गुणगान किया है।

विद्यापति के पदों की सबसे बड़ी विशेषता उसकी संगीतात्मकता ही है। सर्वविदित है कि विद्वानों से लेकर हलवाहों तक की मंडली में विद्यापति के पदों की लोकप्रियता का कारण इसकी सहज संगीतात्मकता, सरल सम्प्रेषणीयता और उसमें लोकचित्त की भावनाओं की अनुगूंज ही है। गीतिमयता इनके गीतिकाव्यों का प्राण तत्व है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मैथिली में रचे गए इनके सारे के सारे पद गीति ही हैं। गेयधर्मिता इनमें इस तरह भरी हुई है कि रागों के सारे शास्त्रीय विधानों के साथ कई बड़े संगीतज्ञ भी ये गीत सफलतापूर्वक गाते हैं, लय, ताल, छन्द, मात्रा की कोई भी त्रुटि उन्हें इन गीतों में नहीं दिखती और दूसरी तरफ एकदम से अपटु व्यक्ति जिन्हें संगीत शास्त्र के व्याकरण

की कोई जानकारी नहीं है, वे भी बड़ी तन्मयता से गाकर आत्मसुख प्राप्त करते हैं। एक ही गीत है - **कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ।** यह बात अचंभे की है कि इस एक ही गीत को बगैर कहीं किसी शब्द और मात्रा परिवर्तन के लोग कभी प्रातःकालीन धुन पर गाते हैं, कभी सोहर की धुन में, कभी किसी और ही धुन में। यह इन गीतों में आत्मा की तरह बैठी हुई संगीतात्मकता ही है जो इन्हें इस कदर लयबद्ध की हुई हैं। प्रो० मैनेजर पाण्डेय कहते हैं, *''गीतकाव्य में काव्यानुभूति के साथ गीतकार की तन्मयता के अनुरूप ही पाठकीय तन्मयता संभव होती है। गीतकाव्य वैयक्तिक अनुभूति की व्यंजना है, किंतु उसमें लोक-हृदय का स्पंदन भी होता है, यही कारण है कि वैयक्तिक गीत समूहगीत बन जाते हैं।''* (भक्ति आन्दोलन .... पृ0 260)

विद्यापति के गीतों में यह बहुत बड़ी विशेषता है कि इनके यहाँ सारे काव्यगीत उन तत्वों से युक्त हैं जिनके कारण गीतकार की तन्मयता के अनुरूप ही पाठकीय तन्मयता मौजूद है। पाठक, भावक और गायक - तीनों ही वर्ग के लोग इन गीतों में उतनी ही तन्मयता से खो जाते हैं, जितनी रचनाकार की रही होगी। इनकी गीति रचनाएँ, चाहे भक्तिपरक हों अथवा शृंगारपरक, शक्ति वंदना हो या गंगा स्तुति या शिव नचारी, विरह विलाप हो या मिलन सुख से युक्त - सबके सब भावक को लीन करने में सफल हैं। पावस की रात में मेघ जब अपनी सारी कलाओं से बरस रहा होता है, तब घर में अकेली बैठी कोई युवती अपने पिया की अनुपस्थिति की पीड़ा किस तरह सहती है, इसको चित्रित करते समय महाकवि ने जब **सखि हे हमर दुखक नहि ओर** गीत लिखा होगा तो कितनी तन्मयता रही होगी, यह कल्पनीय है। इस गीत में यौन पिपासा, देह लिप्सा और उद्धत कामुकता से आतुर किसी कामुक युवती की अश्लील काम भावना नहीं, विरह की आत्यन्तिक पीड़ा सहती, प्रेम रंग में रंगी एक प्रेम तपस्विनी की व्यथा व्यक्त हुई, जिसे सुनकर, पढ़कर या गाकर कोई भी व्यक्ति उस दृश्य से एकात्म्य स्थापित कर लेता है। इन गीतों में मणिकांचन संयोग की दशा यह है कि एक तरफ चित्रण ऐसे उत्कर्ष पर और दूसरी तरफ गीतिमयता यह कि पढ़ते हुए आपसे आप पाठक के भीतर से कोई संगीत बज उठे। शब्दों का उच्चारण होते ही अनुभव हो कि शायद आसपास कोई वाद्य यंत्र बज रहा हो, कोई मादक संगीत चल रहा हो, जो भीतर से हृदय को कहीं कुरेदता है :

झम्पि घन गरजन्ति सन्तत भुवन भरे बरिसन्तिया
कन्त पाहुन काम दारुण सघने खर शर हन्तिया।
कुलिश कत शत पात मुदिर मयूर नाचत मातिया
मत्त दादुर डाके डाहुकि फाटि जायत छातिया।।

विद्यापति के इन गीतों को आदर्श मानने वाले भावकों को प्रो० मैनेजर पाण्डेय की यह धारणा सही लगेगी कि *''गीत काव्य में नाद-तत्व या संगीत संवदेना से उद्भूत लयात्मक बोध अनिवार्य होता है। गीत और संगीत का संबंध आत्मिक है, आंतरिक है। गीत काव्य में भावों की गति लयात्मक होती है।.... संगीत गीतकाव्य का सहज अंग है। गीतकाव्य में कहीं संगीत से काव्यत्व दब जाता है और कहीं काव्यत्व से संगीत अनुशासित होता है''*। (भक्ति आंदोलन...., पृ0 261) महाकवि विद्यापति के इन गीतों को देखते हुए स्पष्ट होता है कि यहाँ भावों की लयात्मक गति में काव्य और संगीत का अनूठा सामंजस्य है। प्रो० पाण्डेय कहते हैं, *''विद्यापति के पदों में सौंदर्य चेतना का आलोक भावानुभूति की तीव्रता, घनत्व एवं व्यापकता और लोकगीत तथा संगीत की आंतरिक सुसंगति है। कुछ आलोचकों का मत है कि विद्यापति के गीत लोकगीत के अधिक निकट हैं और उनमें संगीत की शास्त्रीयता का अभाव है। विद्यापति के गीतों में संगीत के तत्वों का अभाव नहीं है, क्योंकि लोचन कवि ने रागतरंगिनी में विद्यापति के गीतों की संगीतात्मकता का विशद विवेचन किया है। विद्यापति के गीतों का प्रभाव सूरदास के लीला पदों के रूप पर दिखाई पड़ता है..... विद्यापति और सूरदास दोनों ही भक्ति आन्दोलन के कवि हैं, दोनों के काव्य में लोकगीत की मौखिक परंपरा का सर्जनात्मक रूप व्यक्त हुआ है। ये दोनों ही हिंदी जगत के दो जनपदों की भाषा के ग्रामगीतों के कलात्मक रूप के निर्माता और उन गीतों में जन संस्कृति के रचनाकार हैं ''*। (भक्ति आंदोलन ...., पृ0 264) विद्यापति के गीत एक ओर लोकगीतों के करीब हैं तो दूसरी ओर इनमें शास्त्रीयता भी है। विभिन्न स्थानों से विद्यापति की जो पदावलियाँ हासिल हुई हैं, उसमें संकलित पदों के शीर्ष पर रागों का नाम उल्लिखित है कि कौन-सा गीत किस राग में गाया जाएगा। मालव राग, धनछरी, सामरी, अहिरानी, केदार, कानड़ा, कोलाव, सारंगी, गुंजरी, बसन्त, विभास, नटराग, ललित, वरली आदि रागों का उल्लेख पदों के शीर्ष पर है।

महाकवि विद्यापति के सारे गीतों का समुचित संकलन अभी तक तो हो नहीं पाया है, परन्तु यह उनके पदों की गीतात्मक विशेषता ही है कि असंख्य गीत लोक कंठ में बस गए हैं और यह कवि का लोक संबंध तथा लोक संस्कृति से गहरी सम्बद्धता ही है कि इन गीतों के विभिन्न सामाजिक रीति-रिवाज

NMDC-064

मौजूद हैं जिस कारण वे गीत जनपद की ललनाओं द्वारा उपनयन, विवाह, मुण्डन, पूजा-पाठ, कीर्तन-भजन, सोहर, जन्म-मरण आदि अवसरों पर गाए जाते हैं और बिल्कुल उन अवसरों के लिए सटीक बैठते हैं।

महाकवि विद्यापति के कई गीत यदि लोक कंठ में बस गए हैं तो उसका कारण यही है कि यहाँ शब्द संगीत, नाद संगीत और भाव संगीत - तीनों एकमेक होकर ऐसी त्रिवेणी बहा रहा है, मानो गीतिकाव्य का आनन्दातिरेक यहीं से शुरू होकर यहीं खत्म हुआ चाहता है। जब **''के पतियालए जायत रे'' ''सखि हे, हमर दुखक नहि ओर'', ''सखि की पूछसि अनुभव मोहि'', ''प्रथम सूमागम भुषल अनंग'', ''उगना रे मोर कतए गेलाह'', ''जय-जय भैरवि असुर भयाउनि'' ''बड़ सुखसार पाओल तुअ तीरे''....** जैसे गीतों के पद पढ़े जाते हैं तो इनमें शब्द संगीत, नाद संगीत और भाव संगीत की ऐसी ताकत भरी हुई है कि बिना प्रयास के आपसे आप नितान्त अपटु और लयहीन मनुष्य के मुंह से भी धुन और लय फूट पड़ता है। इनके गीतों को गाने की जरूरत नहीं होती, यहाँ संगीत तत्व इतना बलवान है कि वह स्वतः फूट पड़ता है।

विद्यापति के गीत लोकगीत के रूप में प्रचलित हैं। जनपद में लोकगीतों की तरह व्याप्त इनके गीतों का कारण ढूढ़ने में पाठकों को ज्यादा परेशानी नहीं होनी चाहिए। यहाँ मनुष्य के राग-विराग, संयोग-वियोग, दुख-सुख, हर्ष-विषाद, मिलन-विरह, मान-समर्पण, लास-उल्लास, लाज-धाक, क्रोध-स्नेह - रंग और पानी की तरह घुला-मिला है। यह विभाजन रेखा खींचना कठिन है कि जनपद की कौन-सी कहावत और कौन सा मुहावरा इनके गीतों में आकर साहित्य बन गया है और कौन सी पंक्ति लोककंठ में जाकर कहावत बन गई है। किसी के आगमन के लिए काक-शकुन की प्राचीन परम्परा मिथिला में है। महाकवि विद्यापति जब विरह व्याकुल नायिका द्वारा ''काग'' की खुशामद करने वाले गीत में इस लोक सत्य को व्यक्त करते हैं तो वह एक परिष्कृत रूप के साथ सामने आता है। आज भी इस पद की पंक्ति किसी प्रतीक्षा करती नायिका के मुंह से निकल जाती है :

> **मोरा रे अंगनवां चनन केरि गछिया**
> **ताहि चढ़ि कुररय काग रे**
> **सोने चोंच बांधि देब तोयं वायस**
> **जओं पिया आवत आज रे।**

आम जनजीवन की सामान्य सच्चाई है कि किसी भी तरुणी का प्रीतम जब उससे अलग रहता है तो सतत वह उसके संबंध में ही सोचती रहती है। कामदग्धा नायिका की जो आकांक्षाएं जाग्रतावस्था में पूरी नहीं होती है और हरदम जिसके लिए व्याकुल रहती हैं, स्वप्न में उनकी पूर्ति शुरू हो जाती है। लेकिन इस आकांक्षा पूर्ति की लालसा इतनी उत्कट रहती है कि उस हाल में वह सोई नहीं रह पाती। अपनी आंगिक और वाचिक चेष्टाओं के कारण जग जाती है। फलस्वरूप नींद में पूरी होने वाली आकांक्षा भी अपूर्ण रह जाती है :

> **सुतलि छलहुं हम घरबारे गरबा मोतिहार**
> **जखनि भिनसरबारे पिया आएल हमार**
>
> ....
>
> **केहनि अभागलि बैरिनिरे भांगली मोहि निन्द**
> **भल कए नहिं देखि पाओल रे गुनमय गोविन्द**

स्वप्न सुख और स्वप्न का सुख भंग विद्यापति के यहाँ कई रूपों में कई कई गीतों में दिखता है। लोक जीवन की अनुभूतियों के कई कई चित्र इनके यहाँ काफी स्वच्छ, निष्कंपट और सरल रूप में अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ मौजूद हैं।

यदि कायदे से समीक्षा की जाए तो यह साफ-साफ दिखेगा कि साहित्य में रस की जिस सरिता की कल्पना भावकों ने की है, महाकवि विद्यापति की पदावली ही इस सरिता का उदाहरण है जहाँ संगीत की स्वर लहरी अपनी पूरी नाद शक्ति के साथ शब्दों अर्थों, भावों, विचारों और लोक यथार्थों के सारे चित्रों को बहाए जा रही है, एकदम शान्त और समुज्ज्वल रूप में ....। कोई अशान्ति नहीं, कोई अभद्रता नहीं, कोई उच्शृंखलता नहीं। इस साहित्य धारा में यमुना की शान्ति और धीरता, गंगा की निश्छलता और सरस्वती की पवित्रता तथा अदृश्यता हर तरह से मौजूद है। इनकी पदावली को पढ़कर उठने वाले हर भावक को विद्यापति के शब्दों में कहना पड़ेगा - **''बड़ सुखसार पाओल तुअ तीरे''** जैसे स्वयं महाकवि ने इहलोक से विदा लेते समय गंगा की स्तुति में कहा था।

विद्यापति पदावली में राधा-कृष्ण के बहाने से नायक-नायिका के विरह मिलन का सूक्ष्म और मार्मिक चित्रण हुआ है। संयोग पक्ष का चित्रण करन में कवि की भावाभिव्यक्ति सहज रूप में व्यक्त हुई है। कवि ने नायक-नायिका के आंतरिक भावों को सहज अभिव्यक्ति दी है। प्रेम वस्तुतः विरह की आग में तपता है। विद्यापति ने भी विरह के माध्यम से गहरी प्रेमानुभूति व्यक्त की है। आंतरिक भावों के चित्रण में कवि बेजोड़ है।

4.4 विद्यापति पदावली में भक्ति और शृंगार का द्वन्द्व

विद्यापति के भक्ति प्रधान गीत और शृंगार प्रधान गीतों की पड़ताल थोड़ी सावधानी से करने की जरूरत है। कारण, इनके यहाँ और भक्ति कालीन कवियों की तरह न तो एकेश्वरवाद है और न ही अन्य शृंगारिक कवियों की तरह लोलुप भोगवाद। एक डूबे हुए काव्य रसिक के इस समर्पण में ऐसी जीवनानुभूति है कि भक्ति, शृंगार पर और ज्यादातर जगहों पर शृंगार, भक्ति पर हावी नजर आता है। इनके यहाँ भक्ति और शृंगार की धाराएँ कई-कई दिशाओं में फूटकर इनके जीवनानुभव को फैलाती हैं और कवि के वैराट्य को दर्शाती हैं।

भक्ति और शृंगार के जो मानदंड आज के प्रवक्ताओं की राय में व्याप्त हैं, उस आधार पर महाकवि विद्यापति के काव्य संसार को बाँटें, तो राधा कृष्ण विषयक ज्यादातर गीत शृंगारिक हैं और जो भक्ति गीत हैं, उनमें प्रमुख हैं - शिव स्तुति, गंगा स्तुति, काली वंदना, कृष्ण प्रार्थना आदि। उल्लेख्य है कि स्त्री-पुरुष प्रेम विषयक जो भी शृंगारिक पद विद्यापति ने लिखे वे अपने जीवन के अंतिम तीस-बत्तीस वर्षों से पूर्व ही। अर्थात शिव सिंह जैसे प्रिय मित्र की मृत्यु के बाद इन्होंने शृंगारिक रचनाएँ नहीं की। शृंगार और भक्ति को परस्पर विरोधी मानने वाली धारणा से मुक्त होने के लिए डॉ० शिव प्रसाद सिंह का मत गौरतलब है, *''विद्यापति के काव्य के विषय में प्रायः ये शंकाएँ की जाती हैं कि यह रहस्यवादी भक्ति काव्य है, या केवल शृंगार प्रधान प्रेम काव्य। भक्ति और शृंगार के विषय में भी हमारे मन में कुछ धारणाएँ बद्धमूल हो गई हैं। बहुत से लोग विद्यापति आदि के नख-शिख वर्णनों को देखकर इतने घबरा जाते हैं कि उन्हें इन कवियों की भक्ति-भावना पर ही अविश्वास होने लगता है। प्रत्येक महाकवि अपनी परम्परा का परिणाम होता है। यह सच है कि जीवंत कवि पुरानी रूढ़ियों को तोड़कर नई भावधारा की सृष्टि करता है और पुराने प्रथा-प्रथिक वर्णनों की शृंखला का विच्छेद करके नए उपमान-मुहावरे प्रतीकों का निर्माण करता है किन्तु कोई अपनी परम्परा से एकदम विच्छिन्न कभी हो ही नहीं सकता। विद्यापति के काव्य को समझने के लिए तत्कालीन काव्य की मर्यादाओं को, नियमावलियों को तथा कविजनोचित उस परम्परा को समझना होगा जो उन्हें विरासत के रूप में मिली थी।''* (विद्यापति, पृ० 96)

भक्ति और शृंगार - दोनों प्रवृत्तियाँ मध्यकाल के साहित्य में पाई जाती हैं। यह दीगर बात है कि भक्तिकाल का समय निर्धारण साहित्येतिहास में जब से होता है, उसके चार-पाँच वर्ष बाद विद्यापति ने शृंगारिक गीतों की रचना छोड़ दी। कहा जा सकता है कि इनकी शृंगारिक रचनाओं का प्रायः सर्वांश भक्तिकाल के पूर्व ही लिखा गया। लेकिन भक्तिकाल की जो भी रचनाएँ हैं उनका संबंध किसी न किसी तरह अपभ्रंश साहित्य की भक्तिपरक रचनाओं से कमोबेश होगा। डॉ० शिव प्रसाद सिंह की राय में अपभ्रंश साहित्य की भक्तिपरक रचनाओं की मुख्य विशेषताएँ राधाकृष्ण संबंधी पदों में भक्ति और शृंगार का समन्वय, शृंगार का अत्यन्त मुखर रूप, संगीत-प्रेम-भक्ति का समन्वय आदि हैं। (विद्यापति, पृ० 96)

हो न हो विद्यापति के पदों में संगीतमयता, प्रेम और भक्ति के इतने उत्कृष्ट रूप का कारण उस विरासत का प्रभाव भी हो। पर आचार्य शुक्ल की राय में भक्तिपरक रचनाओं में शृंगारिक पुट होना कुछ ठीक सा नहीं हुआ। सूर के पदों के हवाले से आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस बात की शिकायत की है कि भक्ति रचना में शृंगारमय आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना का समाज पर कल्याणकारी असर नहीं हुआ। विषय वासना में रत रहने वाले स्थूल दृष्टि के लोगों पर इसका प्रभाव ठीक नहीं पड़ा। आगे के साहित्य में उन्मादकारिणी उक्तियों भरी शृंगारिक रचनाओं को उन्होंने इसके परिणाम के रूप मे देखा है।

विद्यापति के यहाँ भक्ति और शृंगार का यह रूप कुछ भिन्न है। यहाँ लोग चाहें तो आज की परिपाटी के अनुसार शृंगार और भक्ति की रचनाओं को अलग-अलग करके देख सकते हैं। ऐसे सच यह भी है कि विद्यापति के मैथिली में लिखे राधा-कृष्ण प्रेम विषयक गीतों को कई कृष्ण भक्त भक्तिगीत के रूप मे गाते हैं।

NMDC-064

गीत गोविन्दम् में एक श्लोक है जिसमें जयदेव को कहना पड़ा कि यदि आपका मन सरस हो, हरि स्मरण करना चाहें और विलास के कुतूहल में रमना चाहें तो आप जयदेव की मधुर कोमलकान्त पदावली सुनें। भागवत में तो श्रद्धा और रति को भक्ति की सीढ़ी माना गया है। तंत्र साधना वाले साहित्य युग में ''पंचमकार सेवन'' भी गौरतलब है।

विद्यापति के पदों के संदर्भ में प्रो० मैनेजर पाण्डेय के कथन के सहारे ही बातें खुलती है कि लौकिक प्रेम ही ईश्वरोन्मुख होकर भक्ति में परिणत हो जाता है। लौकिक प्रेम भी जोड़ने का काम करता है और ईश्वरीय प्रेम भी। एकात्म्य की जो स्थिति भक्ति में दिखाई देती है और विद्यापति जिसे आत्मा परमात्मा के मिलन रूप में कहते हैं - **''तोहे जनमि पुनि तोहे समाओब सागर लहरि समाना''**। यह स्थिति लौकिक प्रेम मे कैसे फलित होती है यह देखने के लिए कृष्ण के विरह में नायिका द्वारा गाया गया वह गीत है - **''अनुखन माधव सुमरइत राधा भेल मधाई''**। अर्थात सुध-बुध खोकर प्रेम दिवानी होने वाली राधा की जो व्याकुलता यहाँ है, भक्ति में यही व्याकुलता और विह्वलता भक्तों की होती है।

संगीत के अलावा भक्ति और शृंगार की यह तात्विकता जहाँ एकमेक होती है, वहाँ विद्यापति के कुछ भक्तिपरक पदों में शृंगार और भक्ति का संघर्ष भी परिलक्षित होता है। जो विद्यापति शृंगारिक गीतों में समर्पण और सौन्दर्य की हद तक लीन हैं। रमण, विलास, विरह, मिलन के इतने पक्षों को इतनी तल्लीनता से चित्रित करते हैं और **''यौवन बिनु तन, तन बिनु यौवन, की यौवन पिय दूरे''** कहते हुए पिया के बिना तन और यौवन की सार्थकता ही नहीं समझते, वही विद्यापति अपने भक्तिपरक गीतों में विनीत हो जाते हैं और पूर्व में किए गए रमण और आराम को निरर्थक बता देते हैं : **'आध जनम हम निन्दे गमाओल, जरा शिशु कत दिन गेला; निधुवन रमणी रसरंगे मातल, तोहे भजब कोन बेला''**। ये वही विद्यापति हैं, इतने मनोग्राही शृंगारिक गीतों की रचना करने के बाद अंत समय में **''तातल सैकत बारि विन्दु सम सुत मित रमणि समाजे''** कह देते हैं। जिन्होंने शृंगारिक गीतों में नायिका के मनोवेग को जीवन दिया है, उसे प्राणवान किया है, वे विद्यापति उस ''रमणि'' को तप्त बालू पर पानी की बूंद के समान कहकर भगवान के शरणागत होते हैं। **''जावत जनम हम तुअ न सेवल पद, युवति मनि मअ मेलि, अमृत तेजि किए हलाहल पीउल, सम्पदे विपदहि भेलि''** कहकर महाकवि स्वयं शृंगार और भक्ति के सारे द्वैध को खत्म कर देते हैं, ऐसा मानना शायद पूरी तरह ठीक न हो। पूरा जीवन युवतियों के साथ बिताया, अमृत (ईष्ट भक्ति) छोड़कर विषपान किया - यह भावना कवि की शालीनता ही दिखाती है। दो कालखंडों और दो मनःस्थितियों में एक ही रचनाकार द्वारा रचनाधर्म का यह फर्क कवि का पश्चाताप नहीं, उसकी तल्लीनता प्रदर्शित करता है कि वह जहाँ कहीं भी है, मुकम्मल है। हम शृंगारिक कवि विद्यापति और भक्त कवि विद्यापति को तौलने और समझने का प्रयास तो अवश्य ही करें, इन्हें लड़ाने का प्रयास नहीं कर सकते।

4.5 विद्यापति पदावली की भाषा

विद्यापति पदावली की भाषा मैथिली है। अपनी भाषा और अपनी रचनाओं के बारे में विद्यापति इतने आश्वस्त थे, उन्हें इतना आत्म-विश्वास था कि अपनी प्रारंभिक कृति **''कीर्तिलता''** में उन्होंने घोषणा कर दी - **''बालचन्द विज्जावइ भासा। दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा''** अर्थात बालचन्द्रमा और विद्यापति की भाषा - दोनों ही दुर्जनों के उपहास से परे हैं। इसी तरह **''महुअर बुज्झइ कुसुम रस, कव्व कलाउ छइल्ल''** - अर्थात मधुकर ही कुसुम रस का स्वाद जान सकता है, जैसे काव्य रसिक ही काव्य कला का मर्म समझ सकता है। जनोन्मुख होने के सम्बंध में तो उन्होंने साफ-साफ लिखा -

सक्कअ वाणी बुहअण भावइ। पाउअ रस को मम्म न पावइ
देसिल वअना सब जन मिट्ठा। तें तैसन जम्पओ अवहट्टा

अर्थात संस्कृत भाषा बुद्धिमानों को ही भाती है। प्राकृत में रस का मर्म नहीं मिलता। देशी भाषा सबको मीठी लगती है, इसीलिए इस प्रकार अवहट्ट में मैं काव्य लिखता हूँ।

जाहिर है कि लोकरुचि और लोकहित के पक्ष में सोचने वाले इतने बड़े चिन्तक जब पदावली रचने में लगे होंगे तो उन्होंने भाषा के बारे में एक बार फिर से सोचा होगा और उसकी भाषा तत्कालीन समाज की लोकभाषा मैथिली अपनाई होगी और अपने पदों में समकालीन समाज की चित्त वृत्ति का चित्र खींचा होगा।

मैथिली विद्यापति की मातृभाषा थी। उस काल के साहित्य या उससे पूर्व भी ज्योतिरीश्वर ठाकुर रचित "वर्णरत्नाकर" के अनुशीलन से पता चलता है कि मैथिली उस समय की पर्याप्त समुन्नत भाषा थी। कीर्तिलता और कीर्तिपताका के बाद महाकवि ने मैथिली में ही लिखा और ये रचनाएं हैं इनकी पदावली। विद्यापति की भाषा भाव-बिंबात्मकता और अलंकार विधान की दृष्टि से भी उत्कृष्ट है। विरह मिलन के पदों में और राधा-कृष्ण के सौंदर्य वर्णन में कवि पूरा बिंब हमारे सामने परोस देता है :

> **गगन अब घन मेह दारून, सघन दामिनी झलकाई।**
> **कुलिश पातन सबद झनझन, पवन खरतर बलगई।।**

तेज वर्षा हो रही है, बिजली चमक रही है। कड़क कर वज्रपात हो रहा है और तेज हवा चल रही है। रात्रि की भीषणता रोमांचित करने वाली है। इस पूरे परिवेश से प्रिय मिलन की उत्कंठा और भी तीव्र हो जाती है। कवि ने ऐसे बिंबों का ही प्रयोग नहीं किया है बल्कि अलंकारों का भी सार्थक प्रयोग किया है। उन्होंने परंपरागत उपमाओं का प्रयोग करने के साथ-साथ नये उपमानों की भी सर्जना की है।

विद्यापति के गीतों की संप्रेषण शक्ति का असर यह है कि ये गीत श्रोताओं को अपने साथ बहा ले जाते हैं। श्रोता अपने में नहीं रहते, इन गीतों के अर्थात उन चित्रणों और दृश्यों के गुलाम हो जाते हैं। वे शब्द चित्र इतने जीवन्त होते हैं कि श्रोता उसकी काल्पनिकता से अनभिज्ञ हो जाते हैं और चित्र उनके सामने प्राणवान हो उठते हैं। बोल-चाल की भाषा के शब्द और जनपद में व्याप्त लोकोक्तियों और मुहावरों को भुनाने की ऐसी अच्छी तरकीब अन्यत्र कम देखने को मिलेगी। कहा जा सकता है कि अपने काव्य उपादानों का महाकवि ने हर तरह से संभव हो सकने वाला दोहन किया है। यह दोहन किसी श्रेष्ठ कला-कौशल और उत्तम प्रतिभा वाले रचनाकार से ही संभव है। लोक जीवन में व्याप्त मुहावरों का इनके गीतों में न केवल उपयोग हुआ है, बल्कि उसकी पृष्ठभूमि इनके यहाँ बाकायदा गीत का विषय भी बना है। **"मोरा रे अंगनवां चनन केर गछिया", "पिआ मोरा बालक हम तरुणी गे"** जैसे गीतों का लोककंठ में बस जाना इसी का परिणाम है।

पदावली में संस्कृत, अपभ्रंश, ब्रजभाषा, नेपाली, बंग प्रान्तीय, ओड़िया, असमिया आदि के शब्दों और अनेक कारक रूपों के साथ-साथ मगही, भोजपुरी जैसी उपभाषाओं के बड़े साफ और सहज प्रयोग हुए हैं। **"भू परिक्रमा"** पुस्तक के अवलोकन से विद्यापति के भौगोलिक ज्ञान और परिभ्रमण का अन्दाज लगता है। जाहिर है कि कई स्थानों के भ्रमण के क्रम में इनकी ईमानदार लेखनी ने हर जगह के भ्रमण और हर भाषा के अनुशीलन का प्रभाव भूल जाने का प्रयास नहीं किया। हाल-हाल तक बंगाल के विद्वानों में विद्यापति को बंगला के रचनाकार घोषित करने की अफरा-तफरी मची हुई थी, शायद इसका कारण यही रहा हो।

इनकी भाषा की विशेषता यह रही कि समीपवर्ती कई अन्य भाषाओं के रचनाकार इनसे प्रभावित हुए बगैर नहीं रहे। बंगला, ओड़िया और असमिया के तत्कालीन साहित्य में या बहुभाषाविद प्रारंभिक श्रेष्ठ रचनाकारों के यहाँ इन प्रभावों की तलाश की जा सकती है। मैथिली से प्रभावित ब्रजबुलि भाषा में सैकड़ों वैष्णव पद एवं कविताओं की रचना बंग प्रदेश में हुई। इस संबंध में डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी और डॉ० दिनेश चन्द्र सेन आदि का मत है कि कई बंगाली रचनाकार मैथिली पर मुग्ध होकर उसमें रचना करने लगे। शताधिक बंगाली कवियों ने इस भाषा में काव्य रचना की। अनुकरण का प्रवाह तो ऐसा हुआ कि कवि सम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर्यन्त इसमें प्रवाहित हुए पर इस पर कोई अनुसंधान नहीं हुआ कि यह भाषा कहाँ की है।

4.6 परवर्ती काव्यधारा में विद्यापति का प्रभाव

किसी भी शक्तिशाली घटक के सान्निध्य में रहने पर उसका प्रभाव पड़ जाना सामान्य सी बात है। लगातार चुम्बकों के बीच रखे रहने पर लोहा में चुम्बकीय गुण आ जाता है। महाकवि विद्यापति की काव्य परम्परा विषय और शिल्प - दोनों स्तरों पर इतनी सशक्त थी कि न केवल मैथिली बल्कि पूर्वोत्तर भारत की समस्त रचना-प्रक्रिया उनसे प्रभावित हो उठी। रागतरंगिणी में संकलित पदों का विधिवत अनुशीलन करने पर विद्यापति के प्रभाव का प्रमाण मिलता है। राधा-कृष्ण विषयक काव्य सृजन की परम्परा विद्यापति से पूर्व भी थी। पर विद्यापति ने राधा कृष्ण विषयक प्रेम को अपने गीतों के माध्यम से जो विस्तार दिया, उसका सहज प्रभाव उनके समकालीन कई रचनाकारों पर पड़ा। भाव, शिल्प, छन्द - सब तरह से समकालीन रचनाप्रक्रिया विद्यापति से प्रभावित हुई। मिलन-विरह, नख-शिख वर्णन, मान-अभिसार, भक्ति-शृंगार आदि विषयों पर नाना छन्दों में गीत रचे गए। मिलन की उत्कंठा, विरह में

NMDC-064

व्यथा और व्याकुलता, मिलन के बावजूद अतृप्ति आदि-आदि उपादान उस समय के कई कवियों के यहाँ पाए गए। रागतरंगिणी में संकलित रचनाओं को देखने पर यह तय होता है।

परवर्ती काव्यधारा में मैथिली के संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि काफी अन्तराल तक विद्यापति की परम्परा का ही निर्वाह हुआ। गोविन्द दास, उमापति, रत्नपाणि, हर्षनाथ, हरिदास, महाराजा महेश ठाकुर, लोचन प्रभृति कवियों ने तो महाकवि की परम्परा को ही आगे बढ़ाया। कुछ संकलन कर्त्ताओं द्वारा तो इनकी रचनाओं के अंत में विद्यापति का नाम जोड़ दिया गया और इस कारण अनुसंधान करने वाले लोगों के लिए भी एक मुसीबत खड़ी हो गई। गोविन्द दास ने तो विद्यापति को खुलेआम अपना प्रेरणा-स्रोत ही मान लिया - "**कविपति विद्यापति मतिमाने, जाक गीत जगचीत चोराओरण गोविन्द गौरि सरस रस जाने।**" गरज कि केवल भाव ही नहीं, छन्द ही नहीं, विषय ही नहीं, भाषा रूप और उसके विविध व्याकरणिक पक्षों पर और वर्तनी तक पर इनका प्रभाव रहा।

कृष्ण भक्त कवियों खासकर सूर और मीरां के यहाँ राधा कृष्ण विषयक पदों में शृंगार और भक्ति का अपूर्व समागम है। सौन्दर्यपरक दोहों में कृष्ण भक्त कवियों के यहाँ विद्यापति का स्पष्ट प्रभाव ढूंढ़ने में कोई संशय नहीं होता। प्रो० मैनेजर पाण्डेय ने भी यह बात कही है कि "विद्यापति के गीतों का प्रभाव सूरदास के लीला पदों पर दिखाई पड़ता है। (भक्ति आंदोलन..., पृ० 264)। प्रिय मिलन के समय की आतुरता, विह्वलता, बेचैनी, अपनी सहज अभिव्यक्तियों पर अनियंत्रण और अनायास चेष्टाओं का जो प्रखर रूप सूर की नायिका में है, वह विद्यापति की परम्परा का ही है। हिन्दी के अन्य परवर्ती कवियों पर भी इनके गीतों का प्रभाव खोजा जा सकता है। और यह केवल मैथिली तथा हिन्दी की बात नहीं है, असल में महाकवि विद्यापति के गीतों की प्रभाव-शक्ति ही इतनी प्रबल रही कि प्रान्तेतर भाषाओं तक पर प्रभाव हुए बगैर नहीं रहा। बंगाल, असम, ओड़ीसा तथा नेपाल की साहित्यिक परम्पराओं पर भी विद्यापति के गीतों का प्रभाव पड़ा। बंगाल में तथा असम में विद्यापति की मान्यता वैष्णव भक्त के रूप में हुई। विद्यापति के जिन गीतों को मिथिला में शृंगारिक गीत की सत्ता प्राप्त थी, बंगाल में वही कीर्तन के रूप में अभिगृहीत हुए। चैतन्य देव समेत कई वैष्णव भक्तों ने इसका अनुसरण किया। कई बंगला कवियों ने इस भाषा तथा भाव का अनुकरण करते हुए काव्य सृजन किए जो "ब्रजबुलि साहित्य" के नाम से ख्यात हुआ।

वैष्णव धर्म का प्रचार जब पूर्वांचल में पूरी तरह हो गया तो उस क्षेत्र में विद्यापति के गीतों का गान होने लगा। असम का "वरगीत" तथा "अंकिया नाट" विद्यापति के प्रभाव से पल्लवित पुष्पित हुआ। इस साहित्य में रचे गए गीतों के भाव, विषय और शैली, विद्यापति के प्रभाव से परिपूर्ण हैं।

ब्रजबुलि साहित्य के माध्यम से विद्यापति के गीतों का प्रभाव उड़ीसा के साहित्य पर भी पड़ा। सोलहवीं शताब्दी के कुछ मैथिली कवियों की प्रसिद्धि बताई जाती है जो उड़ीसा के शासक नरसिंह देव के दरबार में थे और जिन पर विद्यापति की रचना धर्मिता का भरपूर असर है। और नेपाल में तो सहज ही, विद्यापति का असर दिखेगा। सिंहभूपति, जगज्ज्योतिर्मल्ल और भूपतीन्द्र जैसे कई रचनाकार सत्रहवीं शताब्दी में ऐसे हुए, जो नेपाल में रहकर अपने आश्रयदाता के शासन काल में विद्यापति की परम्परा से प्रभावित होकर रचना करते रहे। आज भी विद्यापति पदावली का जो कुछ संग्रह प्राप्त हुआ, उसका एक बड़ा भाग नेपाल से ही प्राप्त हुआ है।

हिंदी कविता पर विद्यापति का प्रभाव अन्य किसी भी भाषा से ज्यादा पड़ा। विद्यापति की तमाम परवर्ती काव्यधारा इनके शब्द चयन और वाक्य संरचना से तो प्रभावित रही ही, ध्वनि, रस, अलंकार, विषय आदि तक में इनका प्रभाव दीखता है। भक्ति काल की कृष्ण भक्ति शाखा और रीतिकाल की शृंगारपरक कविताएं इनसे प्रभावित प्रतीत होती हैं। पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने विद्यापति को आगे आने वाले हिंदी साहित्य को यहाँ से वहाँ तक प्रभावित कर देने वाला कवि माना है। दिनकर ने इनकी कविता को मेरी पसंद की कविताएं कहा है और निराला ने भी इनके प्रति अपना आकर्षण दिखाया है। निराला का यह गीत इस बात का स्पष्ट प्रमाण है :

> नव गति, नव लय ताल छंद नव
> नवल कंठ, नव जलद मंद्र रव
> नव नभ के नव विहग वृंद को
> नव स्वर नव पर दे

इस आलोक से विद्यापति के गीत को देखिए

> नव वृंदावन नव नव सभागन

नव नव विकसित फूल
नव वसंत नवल मलयानिल
मातल नव अलिकूल

ये दोनों गीत एक साथ अपने छंद अलंकार, शब्दों की पुनरावृत्ति, ध्वनियों के उतार-चढ़ाव, भाव की एकरसता के साथ झंकृत हो उठे हैं।

4.7 सारांश

विद्वानों की परिपाटी तो रचनाकारों को परिभाषित, सीमित करने और उन पर निर्णयात्मक वाक्य कहने की है। पर विद्यापति के सम्बन्ध में विद्वानों के सामने सतत समस्या आती रही है। इनका फलक इतना विस्तृत है कि ये विद्वानों की पहचान शक्ति की सीमा में समा नहीं पाते हैं। उनके पास जितनी भी पारिभाषिक शब्दावलियाँ हैं, वे विद्यापति के लिए अपूर्ण हो जाती हैं। वीर गाथा कवि कहा जाए तो प्रेम छूट जाता है, भक्त कवि कहा जाए तो शृंगार छूट जाता है। यह भी कह दिया जाए तो लोक चेतना को उजागर करने वाला इनका रूप अनदेखा रह जाता है। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि अपनी भाषा की सादगी, प्रयोग में ग्राम्य और भदेसपन रहने के बावजूद महाकवि विद्यापति का जो विराट रूप हमारे सामने है, वह संपूर्ण भारतीय भाषाओं में अनोखा और अद्वितीय है। इनके यहाँ काव्य की जिस किसी कसौटी से भी समीक्षा शुरू करें, काव्य के जिस पहलू को ही उठाएँ, वहाँ लवण की संतृप्ति जैसी पूर्णता दिखती है, एकदम से उचित, न थोड़ा ज्यादा न थोड़ा कम। इनकी सौन्दर्य प्रियता की चर्चा करते हुए डॉ० शिव प्रसाद सिंह कहते हैं कि सौन्दर्य उनका दर्शन है, सौन्दर्य उनकी जीवन-दृष्टि। इस सौन्दर्य को उन्होंने नाना रूपों में देखा था, इसे कुशल मणिकार की तरह उन्होंने चुना, सजाया, सँवारा और आलोकित किया था। सौन्दर्य मन को कितना भाव विह्वल और एकोन्मुख कर देता है, इसे विद्यापति जानते थे। (विद्यापति, पृ० 154)।

सौन्दर्य से संबद्ध विद्यापति की रचनाओं के अनुशीलन से यही बात सामने आती है कि ये सौन्दर्य के भोक्ता नहीं स्रष्टा थे, सौन्दर्य अनकी आंखों , प्रवृत्तियों और मन में था। इन्हें मिलन की हर स्थिति प्रिय थी, विरह की हर स्थिति व्याकुल करने लायक थी और मिलन में बाधा उत्पन्न करने वाले हरेक तत्व अप्रिय और त्याज्य थे। भले ही वह प्रेमी प्रेमिका के मिलन में उपस्थित बाधा लोकलाज अथवा गुरुजनों की धाक हो या भक्त-भगवान के मिलन में उपस्थित बाधा विषय वासना और आलस्य ही क्यों न हो।

संगीत और प्रेम – मानव जीवन को आत्मिक सुख के चरम पर पहुँचाता है। मैथिली में रचे गए इनके सारे गीतों को ध्यान से देखें, चाहे वह शृंगारिक हों या आध्यात्मिक – तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी। और इन गीतों में व्याप्त ये दोनों तत्व उसी तल्लीनता से भावकों तक पहुँच जाएँ, इसके लिए इन्होंने ग्राम्य पद, लोकोक्ति, बोल-चाल की भाषा, जनपद के लोकाचार – सबका सहारा लिया और सफल हुए। कुल मिलाकर देखें तो विद्यापति पदावली सम्पूर्ण रूप से एक जीवन जीने का अवसर देती है। भाषा प्रयोग तो मानो इनके यहाँ प्राणवान हो उठता है, उक्ति वैचित्र्य लगता है इनके यहाँ बोल उठते हैं।

4.8 अभ्यास/प्रश्न

1. गीतिकाव्य के रूप में विद्यापति पदावली की मुख्य विशेषताएं क्या हैं?
2. विद्यापति पदावली में भक्ति और शृंगार का द्वंद्व किस रूप में प्रकट हुआ है?
3. विद्यापति पदावली की भाषा पर टिप्पणी कीजिए।

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1. पृथ्वीराज रासो भाषा और साहित्य, नामवर सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
2. संक्षिप्त पृथ्वी राज रासो, हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं नामवर सिंह, साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, इलाहाबाद
3. विद्यापति अनुशीलन एवं मूल्यांकन, वीरेन्द्र श्रीवास्तव, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना
4. विद्यापति, शिव प्रसाद सिंह, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1989
5. विद्यापति युग और साहित्य, इन्द्रकांत झा, इन्द्रालय प्रकाशन, पटना

NMDC-064

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(आदि काव्य, भक्ति काव्य एवं रीति काव्य)

खंड

2

भक्ति काव्य-1 (निर्गुण काव्य)

इकाई 5
कबीर की विचार चेतना और प्रासंगिकता 53

इकाई 6
कबीर का काव्य शिल्प 70

इकाई 7
सूफी मत और जायसी का पदमावत 83

इकाई 8
पदमावत में लोक परंपरा और लोक जीवन 95

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी
गुरुनानक देव
विश्वविद्यालय, अमृतसर
प्रो. गोपाल राय
सी-3, कावेरी, इग्नो आवासीय
परिसर, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली
प्रो. नामवर सिंह
32-ए, शिवालिक अपार्टमेंट
अलकनंदा, नई दिल्ली
प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो. निर्मला जैन
ए-21/17, कुतुब एन्क्लेव, फेज़-1
गुड़गाँव, हरियाणा
प्रो. प्रेम शंकर
बी-16, सागर विश्वविद्यालय
परिसर, सागर
प्रो. मुजीब रिज़वी
220, ज़ाकिर नगर
नई दिल्ली

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
3, बैंक रोड, इलाहाबाद
प्रो. लल्लन राय
3, प्रीत विला, समर हिल
शिमला
प्रो. शिवकुमार मिश्र
एफ-17, मानसरोवर पार्क कालोनी
पंचायती हॉस्पिटल मार्ग
वल्लभ विद्यानगर, गुजरात
स्व0 शिव प्रसाद सिंह
प्रो. सूरजभान सिंह
आई-27, नारायणा विहार
नई दिल्ली

संकाय सदस्य
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
डॉ. जवरीमल पारख
डा. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. नीलम फारुकी
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
श्रीमती विमल खांडेकर

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पाठ लेखक	इकाई सं.
डॉ. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह 220, सहयोग एपार्टमेंट मयूर विहार, फेज़-1, दिल्ली	5 एवं 6
डॉ0 अब्दुल बिस्मिल्लाह रीडर, हिंदी विभाग जामिया मिल्लिया इस्लामिया दिल्ली	7 एवं 8

सम्पादक
प्रो. मैनेजर पाण्डेय
पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ0 सत्यकाम
संकाय पाठ्यक्रम समिति
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. सत्यकाम (संयोजक)

निर्माण

मुद्रण	कैमरा रेडी कॉपी	आवरण	सचिवालयी सहयोग
सुश्री पुष्पा गुप्ता कॉपी एडिटर	श्री नरेश कुमार	श्री पंकज खरे	श्री हरीश कुमार सेठी श्री रामबचन प्रजापति श्री महावीर सिंह सैनी

अक्टूबर, 2003 (पुनः मुद्रण)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1999

ISBN-81-7605-552-2

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खंड परिचय : भक्तिकाव्य-1 (निर्गुण काव्य)

खंड 1 में आप आदिकाव्य के अन्तर्गत चंदवरदाई कृत पृथ्वीराज रासो और विद्यापति कृत पदावली का अध्ययन कर चुके हैं। प्रस्तुत खंड-2 में आप भक्ति काल के दो प्रमुख कवि कबीर और जायसी का अध्ययन करने जा रहे हैं।

इकाई संख्या 5 '**कबीर की विचार चेतना और प्रासंगिकता**' में कबीर साहित्य के मूल्यांकन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से विचार विमर्श आरंभ किया गया है। इस इकाई में इस सवाल को समाने रखा गया है कि कबीर को मध्यकालीन समाज के एक रचनाकार प्रतिनिधि के रूप में कैसे देखा जाए। इसके बाद इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि कबीर पर पूर्ववर्ती धर्म साधना तथा सांस्कृतिक परम्परा का प्रभाव किस रूप में पड़ा है। कबीर अपने युग के प्रमुख चितंक और रचनाकार के रूप में उभरे। मध्यकाल में कबीर के महत्व का मूल्यांकन करने के साथ-साथ इस इकाई में कबीर साहित्य की प्रासंगिकता पर भी विचार किया गया है।

इकाई 6 '**कबीर का काव्य शिल्प**' में कबीर की कविता के विभिन्न पदों पर विचार किया गया है। कबीर व्यंग्य के महान कवि हैं। उनकी भाषा व्यंग्य से धारदार बनती है। कबीर की कविता की भाषा के इस पक्ष पर विचार करने के साथ-साथ उनकी कविता में अभिव्यक्त भाव सौंदर्य और कलात्मक सौंदर्य का विवेचन किया गया है।

इकाई 7 '**सूफी मत और जायसी का पदमावत**' में भारत में सूफी मत के उद्भव और जायसी के साथ इसके संबंध की पड़ताल की गई है। इस इकाई में इस पक्ष पर विचार किया गया है कि मलिक मुहम्मद जायसी को केवेल कवि कहा जाए या सूफी कवि। इस परिप्रेक्ष्य में जायसी की कविता और खासकर पदमावत का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 8 '**पदमावत में लोक परंपरा और लोक जीवन**' में भारतीय काव्य परंपरा में फारसी काव्य परंपरा के प्रभाव और कविता में आए बदलाव की चर्चा की गई है। इसी प्रसंग में हिंदी प्रेमाख्यान काव्यों का भी अवलोकन किया गया है। जायसी प्रेम के कवि हैं। उन्होंने इस प्रेम की विशद व्यंजना पदमा +वत में की है। पदमावत एक लोककथा होने के साथ-साथ एक प्रबंध काव्य भी है। इसमें कथानक रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है। इकाई के अंत में जायसी की भाषा पर विचार किया गया है। उन्होंने पदमावत में अवधी भांषा की सर्जनात्मक प्रयोग किया है।

NMDC-064
MAHI-101/52

इकाई 5 कबीर की विचार चेतना और प्रासंगिकता

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 कबीर साहित्य के मूल्यांकन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
5.3 आज के संदर्भ में कबीर का मूल्यांकन
5.4 कबीर पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव
5.5 कबीर का दर्शन
5.5.1 ब्रह्म
5.5.2 जीव
5.5.3 माया
5.5.4 जगत
5.5.5 मोक्ष
5.5.6 कबीर के राम
5.5.7 भक्ति
5.6 सारांश
5.7 अभ्यास/प्रश्न

5.0 उद्देश्य

भक्ति काव्य-I (निर्गुण काव्य) खंड की यह पहली इकाई है। इसे पढ़ने के बाद आप:

- कबीर साहित्य के मूल्यांकन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगे;
- आज के संदर्भ में कबीर का मूल्यांकन कर सकेंगे;
- कबीर पर सिद्धों और नाथों के प्रभाव को परख सकेंगे; और
- कबीर के दर्शन के विविध पक्षों का अध्ययन कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

कबीर के काव्य के मूल्यांकन से संबंधित विभिन्न पक्षों पर इस इकाई के अंतर्गत विचार किया गया है। पहली समस्या तो यही है कि कबीर को मध्यकालीन समाज के एक प्रतिनिधि रचनाकार के रूप में कैसे देखा जाय? दूसरी समस्या यह है कि कबीर तथा अन्य संत कवियों पर पूर्ववर्ती धर्म साधना तथा सांस्कृतिक परम्परा का क्या कोई प्रभाव है या नहीं? तीसरा प्रश्न यह है कि कबीर अपने युग में नये विचारों के वाहक, अग्रणी चिंतक तथा रचनाकार के रूप में किस प्रकार महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे? चौथा प्रश्न यह है कि आज कबीर साहित्य की कोई सार्थकता तथा प्रासंगिकता है या नहीं?

इनके अतिरिक्त कबीर की विचारधारा और उनके दर्शन को लेकर अनेक प्रकार की भ्रांतियां फैली हैं। अतः उनके दर्शनपक्ष को ठोस रूप में प्रस्तुत किया गया है और यह बताया गया है कि वे न तो गोरखनाथ के अनुयायी थे और न शंकराचार्य के। उनका अपना स्वतंत्र दर्शन था।

5.2 कबीर साहित्य के मूल्यांकन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

किसी भी रचनाकार की विचारधारा अथवा विचारचेतना का उद्भव और क्रमिक विकास किसी विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति के कारण ही होता है। कबीर की विचारचेतना और उसकी प्रासंगिकता का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे प्रचलित तत्कालीन परिस्थितियों के ठोस संदर्भ में देखा जाए और इस बात की छानबीन की

NMDC-064

जाय कि उक्त परिस्थिति ने उनकी सोचसमझ, उनकी अनुभव प्रक्रिया और उनके संज्ञान को किस प्रकार प्रभावित किया। यद्यपि मध्ययुग की धार्मिक और दार्शनिक प्रणालियाँ सामंतवाद की सीमाओं में जकड़ी थीं किंतु इससे यह निष्कर्ष यांत्रिक रूप से निकालना सर्वथा भ्रांत होगा कि कबीर के विचार अथवा मध्ययुग के सभी विचार सामंती शासकों के हितों के पृष्ठपोषक थे। सामंती विचारधारा की सीमाओं तथा उस युग की ऐतिहासिक बाध्यताओं की जकड़बंदी के कारण कबीर की विचारधारा की भी सीमाएँ हैं, जिनके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की असंगतियों की झलक कबीर में भी उल्लेखनीय स्पष्टता के साथ दिखायी देती है।

कबीर नाथपंथी योगी परिवार में पले-बढ़े थे। ये नाथपंथी न तो हिन्दू माने जाते थे, न मुसलमान। 'कबीर' नामक पुस्तक में हज़ारी प्रसाद द्विवेदी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि "जोगी जाति का संबंध नाथपंथ से है। जान पड़ता है, कबीर के वंश में भी नाथपंथी संस्कार पूरी मात्रा में थे। यदि नाथपंथी सिद्धांतों की जानकारी न हो तो कबीर की वाणियों को समझ सकना भी मुश्किल है।'' गोरखनाथ के समय से ही नाथपंथी लोग हिन्दुओं और मुसलमानों के बाह्याचार, धार्मिक पाखंड, जातपाँत की कट्टरता, सामाजिक रूढ़िवाद और धार्मिक अंधविश्वासों के विरुद्ध भारत के पश्चिमी, उत्तरी और पूर्वी भागों में अपना आंदोलन चला रहे थे। नाथपंथियों में गृहस्थ लोग भी शामिल थे, पर आंदोलन का नेतृत्व मुख्यत: वैरागियों और फकीरों के हाथ में था। वे स्वेच्छा से गरीबी का, सादगी का और सांसारिक सुखों से विरक्त संतों का जीवन जीते थे। एक आंदोलन के रूप में नाथपंथियों की यह जीवनशैली सामंती विलासिता, ऐश्वर्य और मदांधता के खिलाफ एक प्रकार के प्रोटेस्ट या विरोध की अभिव्यक्ति थी। सामंतवाद के खिलाफ यह विरोध, सामंती शासकवर्ग के रहनसहन के तौरतरीकों, उनकी शाहखर्ची और ऐशो आराम के पीछे दीवाने रहने की उनकी आदतों के खिलाफ विरोध के रूप में प्रकट होता था। सांसारिकता को तिलांजलि देने की यह भावना, वैराग्य की यह प्रवृत्ति दरअसल उनकी विरोध भावना की ही आध्यात्मिक अभिव्यक्ति थी। दिल्ली सल्तनत के शासकों के काल में अर्थात् चौदहवीं पन्द्रहवीं सदियों में भूराजस्व की वसूली के क्रम में किसानों पर जिस प्रकार के जुल्म होते थे, उनके विरोध में लाखों किसान अपने गाँव छोड़कर, ज़मीन, घर-बार छोड़कर भाग जाते थे और शहरों के दस्तकारों-कारीगरों की टोली में शामिल हो जाते थे। यहाँ मध्ययुग के इतिहासकारों द्वारा इस संदर्भ में प्रस्तुत किये गये तथ्यों और निष्कर्षों को विस्तार से रखने की गुंजाइश न होने के कारण सिर्फ इतना बताना आवश्यक है कि किसानों पर जुल्म ढाने में हिन्दू और मुसलमान भूस्वामी समान रूप से हिस्सा लेते थे।

पलट कर विगत इतिहास के इन अध्यायों का गहराई से अध्ययन करने से ही पता चलता है कि सांसारिक सुखों से वैराग्य की भावना, जीवन की क्षणभंगुरता के बोध, जगत को काल का चबेना कहने की प्रवृत्ति, मानवीय समानता की पुकार, हृदय की शुद्धता, धार्मिक रूढ़िवाद के खंडन तथा निर्गुण ब्रह्म से सच्ची प्रीति (सहज समाधि) के पीछे मूलत: देहातों और शहरों के गरीबों की सामंतवाद-विरोधी चेतना ही व्यापक रूप में काम कर रही थी। सिद्धों, नाथों, संतों और सूफियों के साहित्य को इसी ऐतिहासिक संदर्भ में ठीक से समझा जा सकता है। मध्ययुगीन साहित्य के रहस्यवाद को समझने की कुंजी भी यह ऐतिहासिक प्रक्रिया ही प्रदान करती है, न कि तात्विक चिंतन-प्रक्रिया। कबीर के रहस्यवाद और एकेश्वरवाद को दर्शन की कसौटी पर परखना सर्वथा गलत है। संतों या निरगुनिया कवियों के काव्य को समझने के लिए वैदिक परंपरा का चौखटा अपर्याप्त है। श्रमण परंपरा तथा सूफी आंदोलन ने संत साहित्य की अंतर्वस्तु और उसकी वैचारिक चेतना के निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभायी थी। इसके साथ ही महाराष्ट्र के संतों में ज्ञानदेव और नामदेव ने भी हिन्दी की निरगुनिया काव्यधारा के प्रवर्त्तक कबीर को बड़ी गहराई से प्रभावित किया था। इतिहासकार प्रोफेसर इरफान हबीब के एक लेख (**'मध्ययुग में लोकप्रिय एकेश्वरवाद का ऐतिहासिक विन्यास'**) में कबीर के तथा अन्य निरगुनिया संतों के एकेश्वरवाद का विवेचन ऐतिहासिक संदर्भ में किया गया है। प्रोफेसर इरफान हबीब संतकाव्य आंदोलन के एकेश्वरवाद के एक **"नाटकीय पहलू"** अर्थात् नामदेव, कबीर, रैदास, नानक, दादू आदि की जातियों (रंगसाज, जुलाहा, चमार, खत्री, धुनिया) का उल्लेख करते हुए यह बताते हैं कि ये उत्पीड़ित और दलित सामाजिक तबकों से आये थे;- इनका एकेश्वरवाद समाज की निचली जातियों की आवाज़ बनकर प्रगट हुआ था। कबीर के एकेश्वरवाद के संबंध में वे कहते हैं:

"वास्तव में कबीर ऐसे एकेश्वरवाद की स्थापना करते हैं, जिसमें ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण तो है परन्तु सारे धार्मिक अनुष्ठानों को नकारा गया है और इस तरह वह कट्टर इस्लाम से बहुत आगे निकल गया है। कबीर के लिए ईश्वर से एकाकार होने का अर्थ मनुष्यों का एक होना है और इसलिए वहाँ शुद्धता और छुआछूत की प्रथा को सम्पूर्ण रूप से, स्पष्ट शब्दों में नकारा गया है तथा सब तरह के अनुष्ठानों को अस्वीकार किया गया है।'' (सांप्रदायिकता और संस्कृति के सवाल, पृ० 23)

कबीर का एकेश्वरवाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न एक विचारधारा है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद में जीवात्मा की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। अद्वैत वेदान्त का शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत विवेचन शास्त्रीय पुरोहितवाद का ही ऐसा संस्करण था जो पुरानी ढहती हुई सामाजिक व्यवस्था, ब्राह्मणवादी प्रभुत्व और जातपात के भेदभाव को नयी परिस्थितियों में बचाये रखना चाहता था। शंकराचार्य के नेतृत्व में नये सिरे से सारे हिन्दुस्तान में मठों और मंदिरों की प्रतिष्ठा हुई। सामंती राजाओं और भूस्वामियों ने दान तथा संरक्षण के द्वारा इस शास्त्रीय पुरोहितवाद, बाह्य आचारों, यज्ञों और मंदिरों को प्रोत्साहित कर बौद्धों, जैनों, शैवों, शाक्तों और अवैदिक श्रमण परंपराओं को परास्त करने के लिए शंकर के अद्वैतवाद को अपना नवीन घोषणापत्र बना लिया।

कबीर समेत भक्ति आंदोलन के सभी प्रारंभिक रचनाकारों का साहित्य अपने आप में एक शुद्ध धार्मिक आंदोलन की अभिव्यक्ति न होकर तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक यथार्थ की टकराहटों और असंगतियों की आदर्शवादी अभिव्यक्ति है। भारतीय दर्शन के इतिहास के प्रसिद्ध व्याख्याता श्री के० दामोदरन की पुस्तक "भारतीय चितंन परम्परा" में भक्ति आंदोलन नाम से एक स्वतंत्र अध्याय है। हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए इसका अध्ययन करना चाहिए। उनकी पुस्तक के उल्लिखित अध्याय का यह अंश उपर्युक्त संदर्भ में पठनीय है :

"भक्ति आंदोलन के रचनाकारों ने सांस्कृतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय नवजागरण का रूप धारण किया; सामाजिक विषयवस्तु में वे जातिप्रथा के आधिपत्य और अन्यायों के विरुद्ध अत्यंत महत्वपूर्ण विद्रोह के द्योतक थे। इस आंदोलन ने भारत में विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों के उदय को नया बल प्रदान किया, साथ ही राष्ट्रीय भाषाओं और उनके साहित्य की अभिवृद्धि का मार्ग भी प्रशस्त किया। व्यापारी और दस्तकार, सामंती उत्पीड़न का मुकाबला करने के लिए, इस आंदोलन से प्रेरणा प्राप्त करते थे। यह सिद्धान्त कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य – फिर वे ऊँची जाति के हों अथवा नीची जाति के – समान हैं, इस आन्दोलन का ऐसा केंद्रबिंदु बन गया जिसने पुरोहित वर्ग और जाति प्रथा के आंतक के विरुद्ध संघर्ष करने वाले आम जनता के व्यापक हिस्सों को अपने चारों और एकजुट किया।" (वही, पृ० 327)

उदीयमान व्यापारी पूंजीवाद के एकदम शुरुआती समय अर्थात् चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी में मनुष्य की समानता और समस्त जनता की एकता पर जोर दिया जाना ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुरूप एक ऐसा बोध और आह्वान था जो जातपाँत और धार्मिक भेदभाव पर आधारित तुच्छ सामाजिक विभाजनों को समाप्त करना चाहता था, चूंकि ये विभाजन घरेलू राष्ट्रीय बाजार के विकास के रास्ते में बाधा उत्पन्न करते थे, आर्थिक संबंधों में हो रहे परिवर्तनों को रोकते थे और व्यक्ति के गुणों तथा योग्यताओं को अनदेखा करते थे। उदीयमान व्यापारी पूंजीवाद की आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति की दृष्टि से धार्मिक वेशभूषा और आध्यात्मिक तर्क-वितर्क के चोगे में प्रारंभिक भक्ति आंदोलन स्वतंत्रता, खासतौर पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता और जातपाँत के श्रेणीक्रम से सामाजिक मुक्ति की ऐतिहासिक आकांक्षाओं के एक विराट जनजागरण का अग्रदूत बनकर प्रकट हुआ था। किंतु उसकी सीमाएं थीं। तभी यह आंदोलन सत्रहवीं सदी आते-आते शास्त्रीय पुरोहितवाद के द्वारा जीत लिया गया और इसपर सवर्ण हिन्दू समाज का रूढ़िवाद हावी हो गया। तुलसीदास अपनी रचनाओं में भक्ति आंदोलन के प्रारंभिक प्रवर्त्तकों की जिस भाषा में भर्त्सना करते हैं, खिल्ली उड़ाते हैं और वैदिक-पौराणिक संस्कृति के मानमूल्यों की पुन: प्रतिष्ठा करते हैं, उससे भी उपर्युक्त निष्कर्ष को स्पष्ट रूप में समझने में मदद मिलती है। तुलसीदास से संबंधित पाठ में भक्तिकाल की ऐतिहासिक परिणतियों का यह परिप्रेक्ष्य विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ आपके मन में यह प्रश्न उठ रहा होगा कि जनजागरण का यह विराट आंदोलन विफल क्यों हो गया? इस प्रश्न का बहुत अच्छा उत्तर श्री के. दामोदरन ने दिया है। उनका कहना है कि "भक्तिकाल की अपनी सीमाएँ थीं। यह सच है कि सामूहिक प्रार्थनाओं, नृत्यों और संकीर्तनों से संतों का व्यक्तित्व जनता की सृजनात्मक क्षमता को प्रेरणा प्रदान कर रहा था। उनके व्यक्तित्व ने जनता में एक नई चेतना जगायी और क्रियाशीलता के लिए विशाल जनसमुदाय में नई स्फूर्ति पैदा की। उसने सामंतवाद के अंतर्गत फैले जातिवादी और धार्मिक अलगाव को भी खत्म किया। किंतु धर्म के लिए प्रेरणा मूलत: संवदेनात्मक अधिक होती है, तर्क करने अथवा युक्तिपूर्वक सोचने का अवसर कम मिलता है। अत: धार्मिक भावना न तो सामाजिक समस्याओं के तर्कसंगत विश्लेषण के लिए सक्षम है, न ही इन समस्याओं का युक्तियुक्त समाधान ढूँढ निकालने में वह अधिक सफल होती है। भक्ति आंदोलन ने आम जनता में जागृति तो पैदा की किंतु वह सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में मौजूद असंगतियों के वास्तविक कारणों को समझने और मानव के दुखों और पीड़ाओं के नूतन समाधान प्रस्तुत करने में सफल नहीं हुआ। यही एक मुख्य कारण है कि इस आंदोलन की परिणति, जिसने सामंती उत्पीड़न और पुरोहिती रूढ़िवाद के विरुद्ध जनता को संयुक्त किया था, अन्तत: घोर संकीर्णतावाद में हुई। सिक्ख धर्म की विकासप्रक्रिया इसका एक स्पष्ट उदाहरण है।" (वही, पृष्ठ 335-36)

NMDC-064

इसकी एक परिणति तुलसीदास में हुई, दूसरी परिणति सिक्खों के सांप्रदायिक रूढ़िवाद में हुई और तीसरी परिणति रीतिकाल में राधाकृष्ण के बहाने परकीया स्त्री के शृंगारवर्णन, नायक-नायिका भेद और सामंती संरक्षण में रचित दरबारी साहित्य के रूप में हुई।

सामाजिक-आर्थिक इतिहास में झांक कर श्री के० दामोदरन ने यह भी बताया कि **"यदि यह आंदोलन सदा के लिए सामाजिक असमानताओं और जातिप्रथा से उत्पन्न अन्यायों को खत्म नहीं कर सका, तो संभवतः इसका मुख्य कारण यह था कि कारीगर, व्यापारी और दस्तकार, जो इस आंदोलन के प्रधान आर्थिक आधार थे, अब भी कमजोर और असंगठित थे।''** (वही, पृष्ठ 337)

इतिहासकार इरफान हबीब की यह मान्यता है कि इससे पहले कि हिन्दुस्तान के अंदर धीमी गति से उदित होने वाला व्यापारी पूंजीवाद सामंतवाद पर विजय पाता, विज्ञान, तर्कशीलता तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में अपना समुचित विकास कर हिन्दुस्तान को प्रगति की नई मंजिल पर पहुँचाता, मुगल शासन के उत्कर्ष काल में ही उसकी अवनति शुरू हो गई। अकबर के शासन के दौरान कट्टरपंथी इस्लाम और कट्टरपंथी हिन्दुत्व के झंडे के नीचे प्रौद्योगिकी, ज्ञानोन्मेष और लौकिक जीवन के प्रति तर्कशील दृष्टिकोणों को आगे ले चलने वाली ताकतों को पीछे हटना पड़ा। इतिहास की संक्रमणशील अवस्था के इसी दौर में अर्थात् सत्रहवीं सदी में यूरोप का व्यापारी पूंजीवाद आ धमका जिसके पास विज्ञान की अभ्युदयशील नई शक्ति थी और देशदेशान्तर पर प्रभुत्व हासिल करने वाले समुद्री बेड़े भी। मुगल शासन का अधिकृत इतिहास लिखने वाले अबुल फजल के हवालों से भी इन्हीं तथ्यों की पुष्टि होती है।

भक्तिकाल के अंतिम दौर में उसकी रूढ़िवादी परिणति और शास्त्रीय पुरोहितवाद की निर्विवाद पुनः प्रतिष्ठा को समझने के लिए इतिहास के इस आधारभूत नियम पर गौर करना आवश्यक है कि भक्ति आंदोलन के प्रारंभ से ही उसके अंदर परस्पर विरोधी दो प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं। एक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व सरहपा, गोरखनाथ, ज्ञानेश्वर, नामदेव, बाबा शेख फरीद आदि की विरासत को संशोधित-परिष्कृत करने वाले संत काव्यधारा के रचनाकार कर रहे थे।, दूसरी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व अद्वैत वेदान्त के व्याख्याताओं में रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि के विभिन्न संप्रदाय कर रहे थे।

भक्ति आंदोलन के इस द्वन्द्व अथवा अंतर्विरोध पर अनेक समालोचकों ने नये सिरे से विचार किया है। हिन्दी समालोचना में लम्बे अरसे तक यह समझा जाता रहा कि मध्ययुग के इतिहास और भक्तिकालीन साहित्य के भीतर अंतर्निहित अंतर्विरोध की व्याख्या की कुंजी हिन्दुत्व और इस्लाम के संघर्ष में मिलती है। इस दृष्टिकोण को श्यामसुंदर दास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा, परशुराम चतुर्वेदी आदि ने पल्लवित किया था। लम्बे समय से बद्धमूल इस धारणा का खंडन करने और नयी दृष्टि से सोचने की प्रेरणा सबसे पहले डॉ. रामविलास शर्मा की ओर से आई। "आचार्य शुक्ल और हिन्दी आलोचना'' नामक पुस्तक में उन्होंने मध्यकाल के हिन्दू सामंतों, पांडों, पुरोहितों आदि की भूमिका का प्रश्न उठाकर व्याख्या का नयां सूत्र उपलब्ध कराया :
"जो लोग इस्लाम और हिन्दू धर्म की टक्कर में मध्यकालीन समाज की आशा-निराशा का स्रोत ढूँढते हैं वे उस समय के साहित्यिक आंदोलनों के सामाजिक आधार का सही-सही पता नहीं लगा सकते।'' (वही, पृष्ठ 86, संस्करण 1955)

डॉ. रामविलास शर्मा से पहले भक्तिकाल के उद्‌भव की व्याख्या के संदर्भ में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के सांप्रदायिक आग्रह को खारिज करते हुए एक लम्बा निबंध 'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' शीर्षक से लिखा था और मध्ययुग के लोकजीवन के भीतर की उस शक्ति की ओर इशारा किया था जो उसे **"स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिये जा रही थी।''** (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 15)

भक्तिकालीन भारतीय समाज के भीतर उभर रहे मूलभूत अंतर्विरोध की खोज करते हुए डॉ० नामवर सिंह ने **"दूसरी परम्परा की खोज''** में जो निष्कर्ष निकाला है, वह डॉ०. राम विलास शर्मा और हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा बताये गये सूत्रों का ही नया रूपान्तर है। नामवर सिंह का कहना है : **"मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वन्द्व है, न कि इस्लाम और हिन्दूधर्म का संघर्ष।''** (वही, पृष्ठ 77) अपनी इस स्थापना के निहितार्थ को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह प्रख्यात मार्क्सवादी इतिहासकार जॉन इरविन के एक लेख 'भारतीय सभ्यता और संस्कृति के भीतर वर्ग संघर्ष' (द क्लास स्ट्रगल इन इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर, द माडर्न क्वार्टली, जिल्द 1, संख्या 2, लंदन, मार्च 1946) से एक बड़ा उद्धरण देते हैं। इस उद्धरण

पर गौर करना आवश्यक है। वह इस प्रकार है : "ऐसे समय आते रहे हैं जब आर्य लोग अपनी आत्मसात कर लेने की प्रवृत्ति को खो देते रहे हैं और परिणाम यह होता था कि ब्राह्मणवादी निरंकुशता पहले से ही आर्थिक दृष्टि से दलित जनता पर निष्ठुरतापूर्वक लाद दी जाती थी। ऐसी परिस्थिति में संकट अनिवार्य था। दलित जनशक्तियाँ रूढ़िवाद के स्तर के नीचे वेग से संगठित होने लगती थीं और एक खुले विद्रोह की भूमिका तैयार हो जाती थी। बौद्ध धर्म का प्रारंभिक इतिहास, वस्तुतः ऐसा ही था जिसने ब्राह्मणवादी कर्मकांड के विरुद्ध जनव्यापी विद्रोह का रूप धारण कर लिया था।'' जॉन इरविन के उक्त लेख का दूसरा उद्धरण भी गौर करने लायक है जो भक्तिकाल के प्रारंभिक रचनाकारों, मुख्यतः संतों और वैष्णवों के साहित्य पर प्रकाश डालता है : 'ये संप्रदाय ब्राह्मण धर्म की अनुदारता के विरुद्ध व्यापक जनविद्रोह के रूप में जनता द्वारा अपनाये गये। ये आंदोलन रहस्यवादी प्रकृति के थे और व्यक्ति को जाति तथा रूढ़ियों की परवाह किये बगैर अपने ढंग से पूर्णता प्राप्त करने का आह्वान करके ब्राह्मणों के पुरोहितवाद को सीधे चुनौती दे रहे थे। इस प्रकार लोकसंस्कृति वह मुख्य माध्यम बन गई जिसके द्वारा यह धार्मिक विद्रोह जनता में फैल गया और कालक्रम से उन आंदोलनों के समान ही, लोक संस्कृति, उच्चवर्गीय आचार संहिता की अवज्ञा का साधन बन गई। इसका परिधान हमेशा एक समृद्ध मानववाद रहा जिसमें जीवन की पूर्ण स्वीकृति और ऐन्द्रिक उपभोग का भाव निहित था और इस प्रकार यह भावना तपस्या और उपासना पर बल देने वाले कट्टरपंथ के सर्वथा विपरीत थी।'' ('दूसरी परंपरा की खोज' में उद्धृत, पृष्ठ 77-78) जान इरविन के निष्कर्ष का यह अंश संतों और वैष्णवों की बानियों तथा पदों के सारतत्व पर अपना काल्पनिक आग्रह चस्पाँ कर देता है। अतः उल्लिखित रेखांकित वाक्यांश से सहमत होना मुश्किल है। नामवर सिंह ने इस पहलू को अनदेखा कर दिया है। सारे संत और वैष्णव रचनाकार लौकिक जीवन और ऐंद्रिक उपभोग का तिरस्कार करते हैं। जान इरविन संभवतः संतों के साहित्य से पूरी तरह परिचित न थे, इसलिए यह गलती हुई है।

अगर आप इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच अंतर्विरोध को कुंजी बनाकर भक्ति साहित्य की व्याख्या करेंगे तो फिर यह आपकी विवशता होगी कि आप कबीर को इस्लाम का या हिन्दुत्व का प्रवक्ता मानें, जबकि कबीर न तो इस्लाम का प्रतिनिधित्व करते हैं और न हिन्दुत्व का। इस प्रकार की गलती अनेक समालोचकों ने की है। डॉ. धर्मवीर की अभी-अभी प्रकाशित पुस्तक 'कबीर के आलोचक' में इसी समस्या का विशद विवेचन किया गया है। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की 1916 में प्रकाशित पुस्तक 'कबीर वचनावली' में कबीर तथा कबीर पंथ को हिन्दू धर्म की एक शाखा वैष्णव मत के अंतर्गत परिगणित किया गया है। इस निष्कर्ष पर तीखी टिप्पणी करते हुए डॉ. धर्मवीर कहते है : "हरिऔधजी का कबीर के दर्शन के बारे में यह निचोड़ तब है जब वे अच्छी तरह से जानते हैं कि कबीर ने अवतारवाद, देववाद, वर्णाश्रम धर्म, मूर्तिपूजा, कर्मकांड, व्रत-उपवास और तीर्थयात्रा का जमकर खंडन किया है। कबीर ने इन धार्मिक बातों का विरोध करने में किसी संदेह की गुंजाइश नहीं छोड़ी। यदि कबीर तब भी वैष्णव धर्म के हैं तो क्या हरिऔध जी का कोई भी रामानन्दी वैष्णव इन बातों में से किसी एक बात का भी कबीर की तरह खंडन कर सकता है?" (वही पृष्ठ 27)। कबीर और संतमत का अनुशीलन करने वाले हिन्दी के बड़े-बड़े विद्वानों ने कितनी भ्रांति फैलायी है, कितना भयंकर गड़बड़झाला किया है इसका उदाहरण हरिऔध जी का यह निष्कर्ष भी है कि कबीर द्वारा अवतारवाद और मूर्तिपूजा का खंडन मूलतः "प्राचीन आर्य धर्म का अवलम्बन'' मात्र है तथा "कबीर साहब अंत में वेदान्त धर्मावलम्बी हो गये थे।'' (कबीर वचनावली, पृष्ठ 53-54 तथा पृष्ठ 85) डॉ. धर्मवीर कबीर को आर्यधर्म, वैदिक परम्परा और इस्लाम का विरोधी सिद्ध करते हैं। उनकी मान्यता है : "वे साफ-साफ कहते हैं कि मैं हिन्दू नहीं हूँ, कोई मेरे मत की हिन्दू व्याख्या न करे, मेरा वेदों से विरोध है, हिन्दू धर्म के अवतारों को मैं नहीं मानता, लेकिन इसके बाद भी अयोध्या सिंह द्वारा इस पुस्तक में बार-बार हिन्दू लिखा गया है। अयोध्या सिंह की यही ब्राह्मणी दृष्टि इस बात के लिए जिम्मेदार है कि दलित समाज के धर्म की अलग पहचान नहीं बनने दी जाती। उनका अपना धर्म अलग है, उस धर्म की अलग परिभाषा है, लेकिन हिन्दू लेखक इसे जबरन अपने में मिलाना चाहते हैं। इस प्रकार दलितों द्वारा किये गये धार्मिक विद्रोह के सारे इतिहास को नाममात्र को और ऊपर-ऊपर से हिन्दुओं द्वारा अपने में समा लेने की गुप्त प्रक्रिया ही कबीर के पृथक धर्म की स्थापना में अड़चन और फलस्वरूप असफलता है। यह तो कोई बात नहीं हुई कि चूँकि कबीर ईश्वर को मानते हैं और हिन्दू भी ईश्वर को मानते हैं, इसलिए कबीर हिन्दू सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे तो ईसाइयों और मुसलमानों को हिन्दू कहना पड़ जाएगा।'' (वही पृष्ठ 40) डॉ. धर्मवीर की इस पुस्तक में आचार्य शुक्ल के इस मत का भी खंडन किया गया है कि कबीर, रैदास, दादू आदि संतों की बानियों में "ज्ञान का जो थोड़ा-बहुत अवयव है, वह भारतीय वेदान्त का है।'' (जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ 120)।

श्यामसुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा, परशुराम चतुर्वेदी, माता प्रसाद गुप्त आदि कबीर के विद्रोही तेवर के प्रशंसक नहीं माने जाते। पर हजारी प्रसाद द्विवेदी तो कबीर के बहुत बड़े प्रशंसक माने जाते हैं। डॉ. धर्मवीर कबीर की विचारधारा की सही-सही समझ और पहचान के मामले में हिन्दी आलोचना के गड़बड़झाले में हजारी प्रसाद द्विवेदी के योगदान को अचूक ढंग से उद्घाटित करते हुए कहते हैं :

"जो कबीर कहते हैं डॉ. द्विवेदी उस बात को उसी तरह से नहीं लेते। वे इसमें अपनी ब्राह्मणी नमकमिर्च लगाते हैं। कबीर को आरपार देखने का एक साफ कबीरी दर्पण है। लेकिन वे उस कबीरी दर्पण को हटाकर ब्राह्मणी दर्पण से कबीर को देखना चाहते हैं। फलतः उनके लिए कबीर एकदम दुर्बोध हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में कबीर स्पष्ट शब्दों में वेद का विरोध करते हैं। लेकिन डॉ. द्विवेदी को यह सिद्ध करना है कि वे वेद मत के समर्थक थे, कबीर पुराण और मूर्तिपूजा के विरोधी हैं लेकिन डॉ. द्विवेदी को यह सिद्ध करना है कि कबीर का दर्शन पुराणों से ही निकला है। कबीर रामानन्द को अपना गुरु नहीं मानते लेकिन डॉ. द्विवेदी को कबीर से ज्यादा इस जनश्रुति को प्रश्रय देना है कि कबीर के गुरु रामानन्द थे। यदि डॉ. द्विवेदी वेद, पुराण और रामानन्द के चश्मों के बिना कबीर को समझने का प्रयत्न करते तो उनके लिए कबीर दुर्बोध नहीं रह जाते।'' (वही पृष्ठ 77) डॉ. द्विवेदी वैदिक-पौराणिक रस्सों, चश्मों, चौखटों से बंधे हैं, अतः वे कबीर के वेद-विरोधी विस्फोट को "वैदिक और पौराणिक व्याख्या के बर्तनों में संभालना चाह रहे थे।'' (वही, पृष्ठ 77)'

हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक "कबीर'' से डॉ. धर्मवीर ने अनेक ऐसे उदाहरण देकर यह बताया है कि द्विवेदी जी में भी वैदिक-पौराणिक संस्कृति का चौखटा कितनी गहराई के साथ बद्धमूल है। उदाहरण के लिए हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस निष्कर्ष को लिया जा सकता है - "चाहे कबीर साहब हों अथवा पन्द्रवीं सदी के दूसरे निर्गुणवादी, उन सबके मार्ग-दर्शक गुप्त रूप से पुराण ही हैं।'' (कबीर, पृष्ठ 117)

हिन्दी आलोचना में बद्धमूल वैदिक-पौराणिक विचार-दृष्टि से लिपटे मूल्यांकनों का मकड़जाल कबीर साहित्य की समालोचना पर भी फैला हुआ है। इससे मुक्त होकर ही कबीर को सही ढंग से समझा जा सकता है।

5.3 आज के संदर्भ में कबीर का मूल्यांकन

अतीत के अनेक रचनाकारों का कृतित्व साहित्यिक इतिहास और सांस्कृतिक संग्रहालय का मृत अंश बन चुका है। पर कबीर का साहित्य इस प्रकार का अप्रासंगिक और निष्प्राण साहित्य नहीं है। आज की विचारधारात्मक उठापटक और सामाजिक वितंडावाद के बीच अनेक बार कबीर की बानियों के हवाले दिये जाते हैं; उनकी उक्तियों की सार्थकता बतायी जाती है और उन्हें आज के सवर्ण हिन्दूवादी आग्रहों तथा मुस्लिम कट्टरपंथ से लड़ने के लिए बुलावा दिया जाता है।

आपको संभवतः यह भी मालूम होगा कि विगत साहित्यिक विरासत के मूल्यांकन, भक्तिकाल के मूलभूत अंतर्विरोधों की परीक्षा तथा साहित्य में रहस्यवाद की भूमिका को लेकर पिछले पचास वर्षों की हिन्दी समालोचना में जितने विवाद हुएं हैं, सारे विवादों के केंद्र में कबीर ही रहे हैं। उनके साहित्य पर आचार्य शुक्ल की टिप्पणियों को लेकर भी कम बहस नहीं रही है। यहाँ तक कि पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नाम से एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिख दी। इसके बावजूद अभी तक विवाद थमा नहीं है। अभी पिछले अरसे में ही नामवर सिंह ने "दूसरी परम्परा की खोज'' नामक पुस्तक में कबीर की पुनः प्रतिष्ठा के क्रम में मार्क्सवादी साहित्य समीक्षा को खंगालने का एक विचारोत्तेजक प्रयास किया है।

दरअसल अतीत के क्लासिक साहित्य के मूल्यांकन के संदर्भ में आज की समालोचना के सामने दोहरी समस्या है उस विशेष कालखंड में उक्त साहित्य की ऐतिहासिक भूमिका तथा आज के युग में उक्त साहित्य की सार्थकता। विगत युग की क्लासिकं कृतियों के तत्कालीन संपूर्ण संदर्भों में अर्थवत्ता के हर आयाम का निचोड़ प्रस्तुत करने का दायित्व आलोचना के आगे एक चुनौती की तरह होता है। इसी तरह आज उक्त कृतियों को अपने युगबोध और वर्तमान यथार्थ के अंतर्विरोधों के हर आयाम के आलोक में पढ़ना होगा, तभी हम क्लासिक साहित्य की विगत अर्थवत्ता और वर्तमान सार्थकता के बीच संबंध कायम कर पायेंगे। आलोचना के आगे यह दूसरी चुनौती है।

'कबीर वाणी' नामक एक पुस्तक का अभी-अभी प्रकाशन हुआ है। इसके संकलनकर्ता संपादक हैं उर्दू के प्रसिद्ध प्रगतिशील शायर अली सरदार जाफरी। इस पुस्तक की भूमिका में सरदार जाफरी ने उल्लिखित दोनों संदर्भों में अपना विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि कबीर की बानियों में "दिखावटी धर्म से विद्रोह और वास्तविक

NMDC-064

धर्म के प्रचार का क्रांतिकारी पहलू यह था कि उसने मध्ययुग के मनुष्य को आत्मप्रतिष्ठा, आत्मसम्मान और आत्मविश्वास दिया और मनुष्य को मनुष्य से प्रेम करना सिखाया। संतों और सूफियों के पास उतनी ताकत तो थी नहीं कि वे उस अन्याय और अत्याचार के खिलाफ लड़ सकते जिनका केंद्र शाही दरबार और अमीरों के महल थे। इसलिए उन्होंने उनकी तरफ से बड़े तिरस्कार के साथ मुँह फेर लिया और संतोष और धीरज का उपदेश दिया। संतोष का अर्थ वैराग्य नहीं था बल्कि बादशाहों, दरबारियों, और अमीरों से विमुख होकर व्यापार और शारीरिक श्रम से रोजी कमाना था जिसका आदर्श कबीर ने पेश किया था। उस युग में व्यापार को राजसेवा के मुकाबले में तुच्छ समझा जाता था। इसलिए व्यापार और शिल्प की आमदनी पर संतोष करना और ईश्वर का उपकार मानते हुए जीवन व्यतीत करना ही सबसे बड़ा संतोष था।'' (कबीर वाणी, पृष्ठ 34)

विगत युग में कबीर के कृतित्व का सारतत्व प्रस्तुत करने के बाद सरदार जाफरी ने आज के युग-संदर्भ में अपना मंतव्य इस प्रकार रखा है :

"हमें आज भी कबीर के नेतृत्व की जरूरत है, उस रोशनी की जरूरत है जो इस संत के दिल से पैदा हुई थी। आज दुनिया आजाद हो रही है। विज्ञान की असाधारण प्रगति ने मनुष्य का प्रभुत्व बढ़ा दिया है। उद्योगों ने उसके बाहुबल में वृद्धि कर दी है। मनुष्य सितारों पर कमंदें फेंक रहा है। फिर भी वह तुच्छ है, संकटग्रस्त है, दुःखी है। वह रंगों में बंटा हुआ है, जातियों में विभाजित है। उसके बीच धर्मों की दीवारें खड़ी हुई हैं। सांप्रदायिक द्वेष है, वर्ग संघर्ष की तलवारें खिंची हुई है।'' (वही, पृष्ठ 35)

जातियों, धर्मों, वर्गों आदि में विभाजित समाज की संकटग्रस्तता के समय कबीर का साहित्य प्रासंगिक हो जाता है, चूँकि मध्ययुगीन समाज की लगभग ऐसी ही चुनौतियों और उथलपुथल के बीच उन्होंने महान ऐतिहासिक भूमिका निभायी थी। कबीर युगसंधि के उस काल में उत्पन्न हुए थे जब भिन्न-भिन्न धर्मसाधनाओं और सामाजिक विचार-प्रवृत्तियों के बीच अंतहीन टकराहट का सिलसिला शुरू हो गया था। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीर युगसंधि के ऐसे ही चौराहे पर उत्पन्न हुए थे। "वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे साधु होकर भी योगी (अगृहस्थ) नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे। ये योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान के नृसिंहावतार की मानो प्रतिमूर्ति थे।'' (हिन्दी साहित्य : उसका उद्‌भव और विकास, पृष्ठ 77) कबीर के संबंध में हजारी प्रसाद द्विवेदी के निम्नलिखित उद्धरण की अक्सर चर्चा की जाती है: ''कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिंदु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है, दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्तिमार्ग; जहाँ एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना; उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये मार्गों के गुणदोष उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे।'' (वही, पृष्ठ 77-78)

कबीर ने शास्त्रीय ग्रंथों और पोथियों के ज्ञान को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया था, चूँकि यह पुराना ज्ञान मनुष्य-मनुष्य के बीच स्वाभाविक प्रेमपूर्ण संबंध के रास्ते में अवरोध बन गया था। सारे धार्मिक मतवादों, साधनापद्धतियों, उपासनामार्गों, कर्मकांडों, और ब्राह्याचारों का खंडन कर आत्मचेतना, आत्मतत्व, अंतः साक्षात्कार, मनुष्य की आत्मा की निर्मलता और मानवीय सद्‌भाव की सहजता को नये लोकधर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए वे संघर्ष चला रहे थे। जनसाधारण की भाषा में वे नयी विचारधारा का प्रचार कर रहे थे। अंहकार से मुक्ति, सदाचार के पालन और इन्सानी रिश्ते में आपसी प्यार की नयी नैतिकता का वे पाठ पढ़ा रहे थे। डॉ. रामकुमार वर्मा की दृष्टि में "कबीर ने धर्म और जीवन में कोई भेद नहीं रहने दिया। जीवन की सात्विक अभिव्यक्ति ही धर्म का सोपान है। जिस धर्म के लिए जीवन की स्वाभाविक और सात्विक गति एवं मति में परिवर्तन करना पड़े, उसे हम धर्म की संज्ञा नहीं दे सकते।'' (हिन्दी साहित्य (द्वितीय खंड) संपादक धीरेन्द्र वर्मा एंव ब्रजेश्वर वर्मा - पृष्ठ 212)। नये मानववाद की स्थापना के लिए यह अद्‌भुत प्रकार का आंदोलन था। सभी धर्मों, सभी पंथों, सभी मत-मतान्तरों को खारिज कर वे एक तत्व पर जोर दे रहे थे, जिसे कुछ विद्वान एकेश्वरवाद की संज्ञा देते हैं, कुछ विद्वान अद्वैतवाद के नाम से अभिहित करते हैं और कुछ लोग निर्गुणवाद कहते हैं। यह अनुभव पर आधारित नया ज्ञान था - अतः अनेक विद्वान कबीर के मत को ज्ञानमार्ग की भी संज्ञा देते हैं। एक तत्व पर शास्त्रीय ग्रंथों, धार्मिक आडम्बरों और मनुष्य के अंहकार के कारण पर्दा पड़ा हुआ है। पुराने ज्ञान और आडम्बर और अहंकार से मुक्त होकर ही उस एक तत्व को पाया जा सकता है :

हरि है खांड रेतु महि बिखरी, हाथी चुनी न जाई।
कहि कबीर गुरि भली बुझाई, कीटी होई कै खाई।।

हरि तो खांड की तरह है जो संसार रूपी रेत में बिखरा हुआ, फैला हुआ; मौजूद है। अंहकार और मद से उन्मत मन रूपी हाथी उसे चुन नहीं सकता। कबीर का कहना है कि गुरु ने उन्हें भलीभांति समझाबुझा दिया है कि अपनी सहज और सूक्ष्म शक्ति से कीट की तरह अथवा चींटी की तरह उस खांड को पाया जा सकता है। मैं यही कर रहा हूँ।

हरि, ईश्वर, राम, गोविन्द आदि उस परम तत्व के ही प्रतीक हैं। कबीर के यहाँ ईश्वरतत्व और मानवप्रेम दोनों अभिन्न हैं। उसे पिता रूप में, माँ के रूप में, मित्र के रूप में, पति रूप में, प्रेयसी के रूप में - सभी प्रकार के मानवीय रिश्तों द्वारा सहज ही पाया जा सकता है।

जातिप्रथा और वर्णाश्रम व्यवस्था पर जितनी चोट कबीर ने की थी, उतनी मध्ययुग में किसी ने भी न की थी। कबीर की बानियों की तात्विक मीमांसा के क्रम में प्रायः सभी समालोचकों ने यह सिद्ध किया है कि कबीर ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इन विद्वानों ने यह भी सिद्ध किया है कि कबीर निर्गुण ईश्वर, अज्ञात परमसत्ता या सृष्टि के रचयिता ब्रह्म के अस्तित्व में विश्वास करते हैं पर श्री कबीर मंदिर बड़हरा के संत अभिलाष दास इन मान्यताओं का खंडन करते हैं। उनका कहना है कि कबीर ब्रह्मवाद नहीं मानते बल्कि जीवात्मा को ही एक मात्र परम तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। कबीर के पदों की व्याख्या का सर्वथा नया वैचारिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करते हुए श्री अभिलाष दास ने अपना अलग निष्कर्ष निकाला है :

"यह चेतन जीव ही परम तत्व है। सारी कला-कल्पनाएँ, सारे ज्ञान-विज्ञान इसी के हैं। जीव ही ईश्वर-ब्रह्म, देवी-देवता तथा भूतप्रेत की कल्पना करने वाला तथा वेद, बाइबिल, कुरान आदि शास्त्रों का रचने वाला है। अतः जीव ही सर्वोपरि है। सद्गुरु पहली ही रमैनी में कहते हैं 'एक जीव कित कहूँ बखानी।' अर्थात् एक जीव ही सत्य है, मैं विशेष वर्णन करके क्या कहूँ।" (कबीर - व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ 106)

विश्वविद्यालयों के हिन्दी जगत तथा हिन्दी समालोचना क्षेत्र के विद्वानों के बीच कबीर के दर्शन और उनकी विचारधारा पर नये सिरे से विवेचन-विश्लेषण की आवश्यकता महसूस की जा रही है क्योंकि ब्राह्मणवादी चिंतनप्रणाली से कबीर की बानियों की सुसंगत व्याख्या हो नहीं पा रही। परन्तु अभिलाष दास की व्याख्याएँ कबीर के अभिप्रायों को कहीं अधिक सहज तथा सुसंगत रूप में पेश करती हैं। इन व्याख्याओं से यह भी स्पष्ट होता है कि कबीर अगम, अगोचर, परोक्ष, निर्गुण के समर्थक न होंकर इहलौकिकता और जीववाद के समर्थक थे। उदाहरण के लिए अभिलाष दास निम्नलिखित साखी की जो व्याख्या करते हैं, उस पर गौर कीजिए :

साँच कहौं तो है नहीं, झूठहि लागु पियारि।
मो शिर ढारे ढेंकुली, सींचे और कि क्यारि।।

अर्थात् यदि सच्ची-सच्ची कहूँ तो कहना पड़ेगा कि परमात्मा है ही नहीं। पर लोग यह नहीं मानते और झूठी बात ही उन्हें पसंद आती हैं; झूठी बातें ही उन्हें प्रिय लगती हैं। लोग मेरे सिर पर ढेंकुली ढारते हैं और दूसरे की क्यारी सींचते हैं अर्थात् अनुयायी मेरा कहलाते हैं और परिपोषण दूसरे मतों का करते हैं।

इसी तरह निम्नलिखित पद की व्याख्या पर ध्यान दीजिए -

अलख निरंजन लखै न कोई। जेहि बंधे बँधा सब लोई।
जेहि झूठे सब बाँधु अयाना। झूठा वचन साँच कै माना।।

अर्थात् अलक्षित परब्रह्म को किसी ने देखा नहीं। पर अचरज की बात है कि परब्रह्म परमेश्वर की अवधारणा से सब लोग बंध गये हैं। जिस झूठ की मान्यता में सब अज्ञानी बंधे हैं, उस झूठे वचन को उन्होंने सच्चा करके मान रखा है।

यहाँ मैंने कबीर साहित्य के अध्ययन की इस नई दिशा की ओर संकेत मात्र किया है। विस्तृत जानकारी के लिए अभिलाष दास कृत "बीजक पारख प्रबोधिनी व्याख्या" और "कबीर दर्शन" नामक पुस्तकों का गंभीरता से

अध्ययन आवश्यक है। व्याख्या, आस्वादन, वैचारिक विश्लेषण और मूल्यांकन की दृष्टि से हिन्दी समालोचना किस तरह ब्राह्मणवादी आग्रहों और कसौटियों से ग्रस्त है, यह 'कबीर के आलोचक' नामक पुस्तक के लेखक डॉ. धर्मवीर दिखला चुके हैं। अतः वैदिक-पौराणिक सांस्कृतिक दृष्टि पर पुनर्विचार की प्रक्रिया में कबीर एक जटिल समस्या बनकर आ खड़े हुए है मानो आज भी कह रहे हों -

"यह जग अंधा मैं केहि समझावौं। घर की वस्तु नजर नहिं आवत, दियना बारि के ढूँढ़त अंधा।"

इधर समकालीन कवियों-कलाकारों के बीच कबीर पथप्रदर्शक बनकर आ धमके हैं। अभी पिछले दिनों भीष्म साहनी द्वारा लिखित नाटक **'कबिरा खड़ा बाजार में'** की, रंगमंच पर एम.के. रैना ने नाट्य-प्रस्तुति की थी। केदारनाथ सिंह के नये कवितासंग्रह में 'उत्तर-कबीर' नाम से एक लम्बी कविता है जो आज के यथार्थ की विडंबनाओं को उलटबाँसी की शैली में प्रस्तुत करती है।

कथ्य और सांकेतिक व्यंजनाओं के कारण कबीर की बानियां आज के पाठकों को समकालीन जीवन के बदले हुए संदर्भों में उतनी ही झकझोरती हैं, जितना मध्यकालीन यथार्थबोध के संदर्भों में। इसीलिए कबीर के साहित्य पर कालदेवता का वश नहीं चलता, चूंकि धूल झाड़कर हर चुनौती के मौके पर वह बहस के अखाड़े में मुस्तैद होकर खड़ा हो जाता है।

5.4 कबीर पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव

कबीर की बानियों की काव्यात्मक बुनावट पर तथा उनकी विचारधारा पर सिद्ध साहित्य, नाथपंथी योगियों के साहित्य तथा मराठी संत कवियों में ज्ञानेश्वर तथा नामदेव के साहित्य का गहरा प्रभाव है। कबीर ही नहीं संपूर्ण संत साहित्य आठवीं-नौवीं सदी से चली आ रही विभिन्न अवैदिक साधना पद्धतियों से काफी-कुछ ग्रहण करता है, पर अपनी विचारधारा का भी स्वतंत्र रूप में विकास करता है। इसलिए यह भ्रम हम-सबको नहीं होना चाहिए कि कबीर की विचारधारा नाथपंथ की नकल मात्र है। उसका अपना स्वतंत्र स्वरूप है। यद्यपि कबीर बौद्धों से भी बहुत-कुछ लेते हैं, योगियों और तांत्रिकों से भी, पर कबीर न तो बौद्ध हैं, न हठयोगी, न नाथपंथी। पन्द्रहवीं सदी की ठोस सामाजिक वास्तविकताओं और वैचारिक चुनौतियों के बरक्स कबीर की विचारधारा क्रमशः और उत्तरोत्तर विकसित होती है। बौद्ध धर्म का जब ह्रास हुआ तो आठवीं-नौवीं सदी तक आते-आते वह तंत्र-मंत्र की साधना में बदल गया और उसके अपने बाह्याचार तथा कर्मकांड भी बन गये। वज्रयान और महायान नामक शाखाओं में विभक्त बौद्ध भिक्षुओं के साधना-संबंधी पदों में काया योग, सहज शून्य की अवस्था तथा समाधि जन्य भावदशाओं का वर्णन मिलता है। इसी साहित्य को 84 सिद्धों का साहित्य कहा जाता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों गें सिद्ध साहित्य के **"पदों की योजना इस प्रकार की है कि ऊपर से उससे कुत्सित लोक-विरुद्ध अर्थ प्रकट हो, या परस्पर विरोधी अनर्थक बातें प्रतीत हों, किंतु साधना के रहस्यात्मक शब्दों की जानकारी प्राप्त होने पर साधनात्मक विशुद्ध अर्थ स्पष्ट हो जाए।"** (हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृष्ठ 15) इन्हीं रचनाओं को उलटबांसियों की संज्ञा दी जाती है। कबीर ने भी ऐसी उलटबाँसियों की रचना की है। इन्हें कूट पद या अन्योक्ति शैली के पद मानने में हिन्दी के विद्वानों को कोई कठिनाई नहीं रही है। नाथपंथी जोगियों में खासकर मछेंदरनाथ और गोरखनाथ के भी ऐसे कूट पद मिलते हैं। उलटबाँसी की यह काव्यपरम्परा निरगुनिया संतों की बानियों में अपने परिपक्व और समृद्ध रूप में देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए कबीर का निम्नलिखित पद देखा जा सकता है:

एक अचंभौ देखा रे भाई।
ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई।।टेक।।
पहिलै पूत पिछै भई माई, चेला कै गुर लागै पाई।
जल की मछरी तरवरि ब्याई, कूता कौ लै गई बिलाई।
बैलहि डारि गोंनि घरि आई, घोरै चढ़ि भैंस चरावन जाई।
तलि करि साखा उपरि करि मूल, बहुत भांति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकौं तीनिउँ त्रिभुवन सूझै।।

कबीर कहते हैं कि हे भाई, मैंने एक अचंभा देखा कि सिंह खड़ा होकर गाय चरा रहा है। पहले पुत्र हुआ, पीछे माता हुई। गुरु शिष्य के पैर छूता है। जल में विचरने वाली मछली पेड़ के ऊपर बच्चा देती है। बिल्ली कुत्ते का शिकार कर उठा ले जाती है। अनाज की थैली बैल को बाहर छोड़कर धर वापस आ गई। भैंस घोड़े पर

NMDC-064

बैठकर उसे चराने जा रही है। पेड़ की शाखा जमीन के अंदर नीचे है और जड़ ऊपर की तरफ है। फूल डालों और टहनियों में नहीं लगते बल्कि जड़ों में खिले हुए हैं। कबीरदास कहते हैं कि जो इस रहस्य को समझता है, उसे तीनों लोकों के ज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है। इस पद का यह ऊपरी अर्थ है, पर उलटबाँसी के रूप में इसकी व्यंजना भिन्न है। कबीर कहते हैं कि जीव ने इन्द्रियों को वशीभूत कर लिया है (सिंह गाय को चरा रहा है)। सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद आत्मतत्व स्वंय जीवात्मा तक पहुँच जाता है (गुरु स्वयं शिष्य के पैर छूता है)। मूलाधार में स्थित कुंडलिनी उत्थित होकर सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरंध्र अर्थात् गगनमंडल में पहुँचकर ज्ञान को जन्म देती है - अर्थ यह कि विषयोन्मुख बहिर्मुख प्रवृत्ति अंतर्मुख प्रवृत्ति के नियंत्रण में आ जाती है (बिल्ली कुत्ते को दबोच लेती है)। साधक की सिद्धावस्था में मन (अनाज की थैली, गोंनी) अविवेक (बैल) को चैतन्य (घर) की ओर ले जाता है। सिद्धावस्था में इन्द्रियों (घोड़े) की सवारी निग्रहवृत्ति (भैंस) द्वारा हो जाती है अर्थात् इन्द्रियाँ निग्रहवृत्ति के नियंत्रण में आ जाती है। मनुष्य के शरीर की रचना ही ऐसी है कि मूल, जड़ (मस्तिष्क, ब्रह्मरंध्र) ऊपर रहता है और शाखाएँ (नाड़ी मंडल) नीचे। साधना की सिद्धावस्था में शरीर के मूल अर्थात् चैतन्य में, ब्रह्मरंध्र में, मस्तिष्क में आनन्द के फूल खिल उठते हैं। कबीर कहते हैं कि सिद्धावस्था के इस रहस्य को जो जान लेता है, उसे तीनों लोकों के ज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है। मूल शब्द में श्लेष है और संपूर्ण पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

आपने ध्यान दिया होगा कि इस पद में किस तरह उलटा-पुलटा बयान किया गया है। आपने इस बात पर भी गौर किया होगा कि कहना कुछ चाहते हैं, पर कहते कुछ और ही हैं। ऊटपटांग ढंग से वर्णन की इस कला में मूल मंतव्य ढँका हुआ रहता है यानी मुख्य आशय पारिभाषिक पदों और प्रतीकों के व्यंजना व्यापार द्वारा ही प्रकट होता है। सुषुम्ना, नाड़ी मंडल, ब्रह्मरंध्र, साधना, सिद्धावस्था, विषयासक्ति, इन्द्रियाँ, आनन्द, आत्मतत्त्व जैसे पारिभाषिक पद तांत्रिकों, योगियों, सिद्धों, नाथों और संतों में समान रूप से प्रचलित थे। ये सभी सम्प्रदाय इनका समान अर्थ करते थे। अत: साधना संबंधी शब्दों को कुछ प्रतीकों के साथ संयुक्त करके नये अर्थ की व्यंजना के लिए इस्तेमाल में लाया जाता था। उलटबाँसी की यह शैली सरहपाद, गोरखनाथ और कबीर में समान रूप से मिलती है। कबीर तथा अन्य संतों ने सहज समाधि के आनन्द के क्षणों की अभिव्यक्ति में कुछ नयी उद्भावनाएँ भी कीं जो नाथों और सिद्धों के पदों में नहीं मिलती हैं। **'अनभौ साँचा'** अर्थात् सहज सच्चे अनुभव-ज्ञान की कसौटी भी मूलत: निरगुनिया संत कवियों ने ही विकसित की। परम तत्त्व से एकाकार होने की साधना की अभिव्यक्ति के लिए स्त्री-पुरुष प्रेम, पिता-पुत्र प्रेम, माँ-बेटे के प्रेम के रूपक के अलावा दास्य भाव की प्रेमभक्ति के साँचे का भी उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त साधक की तुलना शूर से करते हुए युद्ध के रूपकों में भी साधना के कठिन मार्ग को बतलाया गया है :

जब बजै जुझाउंर बाजा, तब कायर उठि-उठि भाजा।
कोई सूर लड़ै मैदानां, जिन मारि किया घमसांनां।।
जहँ बाँधि सकल हथियारा, गुर ग्यांन कौ खड्ग सम्हारा।
जब बस कियौ पांचौ थाना, तब राम भया मिहर बांना।।
(पदसंख्या 205, कबीर वाड.मय, खंड 2, पृष्ठ 259)

जातिप्रथा, सामाजिक भेदभाव, धार्मिक कर्मकांड, मूर्तिपूजा, बाह्याचार, छुआछूत, यज्ञ, वेद-पुराण, पंडित-पुरोहित आदि की तीखी आलोचना यद्यपि सिद्धों और नाथों की बानियों में भी मिलती है, पर एक व्यवस्थित वैचारिक साँचे में कबीर ने वैदिक-पौराणिक संस्कृति के सभी पहलुओं पर आक्रमण की नई अभिव्यक्ति-प्रणाली का प्रवर्त्तन किया जिसे बाद में परवर्ती संतों तथा कबीरपंथी रचनाकारों ने और भी समृद्ध किया। दलीलों की एक अनुभवगम्य सहज लोकशैली का विकास मध्यकालीन संतकाव्य की सर्वोपरि विशेषता है। यद्यपि बाद में निर्गुण के खंडन के लिए सूरदास के भ्रमरगीत में और तुलसीदास के रामचरितमानस में भी इस शैली का अपने ढंग से विकास किया गया। पर सीधी मार करनेवाली जुबान और तर्कशक्ति का जैसा अक्खड़पन संतों की बानियों में मिलता है, वैसा अन्यों की रचनाओं में फिर उपलब्ध न हो सका। इस प्रसंग में यहाँ विस्तारपूर्वक विवेचन की गुंजाइश नहीं है। कबीर की भाषा की व्यंग्यशक्ति पर चर्चा के क्रम में विस्तार से आप इसका अध्ययन कर पायेंगे।

हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा आदि विद्वानों की मान्यता है कि कबीर आदि संत कवियों पर सिद्धों का उतना ही प्रभाव पड़ा जितना नाथपंथ के माध्यम से आ सकता था। इन विद्वानों ने नाथों और संतों के साहित्य को आमने सामने रखकर यह प्रमाणित किया है कि दोनों के बीच बड़ा गहरा संबंध है; यह संबंध प्रत्यक्ष भी है और प्रगाढ़ भी। रामकुमार वर्मा की यह टिप्पणी उल्लेखनीय है: "नाथ संप्रदाय की आचार निष्ठा, विवेक

सम्पन्नता, अंधविश्वासों को तोड़ने की उग्रता एवं परम्परागत कर्मकांडों की निरर्थकता संत संप्रदाय में सीधी चली आई। अनेक प्रसंगों में उनकी अभिव्यक्ति में साम्य है।'' (हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड, संपादक : धीरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक : भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग, पृष्ठ 204) जिस उल्लिखित पुस्तक में एक अध्याय के तौर पर संतकाव्य की यह विवेचना प्रकाशित हुई है, मेरा सुझाव है, इसे आप सब लोग ध्यान से अवश्य ही पढ़ें। आपकी सुविधा के लिए रामकुमार वर्मा द्वारा लिखित इस विवेचना का एक और भी अंश प्रस्तुत कर रहा हूँ :

"यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि संतकाव्य में प्राचीन वैदिक साहित्य की उपेक्षा की गई है। यदि इस दृष्टिकोण से संतकाव्य पर विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि इसका दृष्टिकोण बौद्ध धर्म के दृष्टिकोण के अनुरूप ही है जो शताब्दियों तक वैदिक धर्म से संघर्ष करता रहा। यदि बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास देखा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि संतकाव्य बौद्ध साहित्य की परम्परा से ही अनुप्राणित हुआ होगा। बौद्ध साहित्य से वैपुल्यवाद या महायान का विकास हुआ, महायान में मंत्रयान, मंत्रयान से वज्रयान या तांत्रिक बौद्ध धर्म में परिणत हुआ। इसी वज्रयान की प्रक्रिया में नाथ संप्रदाय का विकास हुआ और नाथ संप्रदाय के प्रेरणामूलक तत्वों को ग्रहण कर संत संप्रदाय अवतरित हुआ। यह देखा जा सकता है कि इस विकास की प्रक्रिया में बौद्ध धर्म से लेकर नाथ संप्रदाय तक जो जो जीवन के तत्व मनोभावों के धरातल पर उभर सके उन सबका समाहार संत संप्रदाय में हुआ। बौद्ध धर्म के शून्यवाद से लेकर नाथ संप्रदाय के योग तक तथा वज्रयान के सिद्धों की 'संधा भाषा' की उलटबाँसियों से लेकर नाथ संप्रदाय की अवधूत भावना तक संतकाव्य में सभी विचार-सरणियाँ पोषित हो सकीं। बौद्ध धर्म से प्रेरित इस विचारधारा के विकास से ही यह संभव हुआ कि संतकाव्य समस्त वैदिक परम्परा के उन कर्मकांडों का विरोध कर सका जो कालान्तर में वैष्णव धर्म में भक्ति के साधन थे। इसीलिए अवतार, मूर्ति, तीर्थ, व्रत, माला आदि संत संप्रदाय को ग्राह्य नहीं हो सके, जो कर्मकांड के प्रतीक बने हुए थे। दूसरी ओर शून्य, कायातीर्थ, सहज समाधि, योग जिसके अंतर्गत इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियाँ, षटचक्र, सहस्र दल कमल, चन्द्र और सूर्य तथा जीवन की स्वाभाविक और अन्त: करणजनित श्रद्धा और रागात्मिका वृत्ति की प्रधानता संतकाव्य में हो सकी।'' (वहाँ, पृष्ठ 189-190)

श्यामसुदर दास द्वारा संपादित कबीर ग्रंथावली पढ़ें या पारसनाथ तिवारी द्वारा संपादित कबीर साहित्य का अध्ययन करें, आपको पता चलेगा कि कबीर के सैकड़ों पद अवधूतों अर्थात् नाथपंथी योगियों को संबोधित हैं। दरअसल कबीर ने इन अवधूतों की साधनापद्धति का भी खंडन किया। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीर के जो पद संतों को संबोधित हैं, वे मूलत: कबीर के दृष्टिकोण या उनकी स्थापनाओं का स्पष्टीकरण करने के उद्देश्य से रचे गये हैं; परन्तु जो पद अवधूतों को संबोधित हैं वे मूलत: नाथपंथियों के हठयोग का खंडन करने के उद्देश्य से रचे गये हैं। (कबीर, पृष्ठ 78) कबीर नाथपंथियों के हठयोग की विभिन्न क्रियाओं के द्वारा प्राप्त शून्य भाव को मदिरा के नशे में धुत मानसिक दशा के समान अस्थायी मानते हैं; वे तो सहज समाधि को ही शाश्वत मानते हैं। इसी तरह अनहद नाद बजने की स्थिति को योगी परम सत्य मानता है, पर कबीर इसे नहीं मानते। वे पूछते हैं

"बाजै जंत्र नाद-धुनि हुई, जो बजावैं सो औरे कोई।
बाजी नाचै कौतिग देखा, जो नचावै सो किनहुँ न देखा।।
(कबीर ग्रंथावली, संपादक श्यामसुंदरदास, पृष्ठ 230-31)

जो इस अनहद नाद को बजाता है, जो बाजीगर को नचाता है - उस परम तत्व से एकाकार होने पर कबीर की दृष्टि है। जबकि योगी योगक्रिया द्वारा अनहद नाद बजने की स्थिति को ही भ्रमवश परमसुख मान बैठे हैं। गोरखपंथी जोगियों को ही कबीर ने अवधूत के रूप में संबोधित किया है। ये लोग कनफटा योगी भी कहलाते थे। ये लोग कान में छेद कर कुंडल धारण करते थे (या अब भी कुछ ऐसे जोगी हैं) जिसे मुद्रा कहते थे, उसके साथ काली सींग की सीटी गले में होती थी, जिसे शृंगी नाद कहते थे। इनके हाथ में नारियल का खप्पर होता था, वस्त्र गेरुआ, सिर पर जटाएँ, शरीर पर भभूत और ललाट पर त्रिपुंड। कबीरदास इन अवधूतों के बाह्य आचार को देखकर कहते हैं कि ये असली योगी नहीं हो सकते, चूँकि मन में मुद्रा नहीं है, मन में खप्पर और सींगी भी नहीं है; मन के भीतर आसन और मन का जपतप भी नहीं है (कबीर ग्रंथावली, पदसंख्या 206)।

अनेक विद्वानों ने कबीर की साखियों, रमैनियों और पदों के क्रमिक विकास का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि नाथपंथियों के हठयोग से उनका मोह भंग हो गया था। एक ऐसा भी वक्त आया जब वे स्वतंत्र मार्ग की तलाश करने लगे। डॉ. मोती सिंह ने 'कबीर की भक्ति, आस्था और साधना' शीर्षक लेख में यही निष्कर्ष निकाला है। उनकी स्थापना है कि **"कबीर का सुझाव जिस रूप में भक्तिवाद की ओर बढ़ा उसमें अनिवार्य था कि बाह्य क्रियाबहुल योगमार्ग उन्हें हेय प्रतीत हो।''** (कबीर, संपादन विजयेंद्र स्नातक, पृष्ठ 135) अपनी इस स्थापना की सोदाहरण विवेचना के उद्देश्य से डॉ.मोती सिंह ने कबीर के पद **"संतो सहज समाधि भली''** को उद्धृत किया है। जब से सांई से मिलन हुआ, सुरति शाषक्त हो गई, इस सहज समाधि में न तो आँख मूँदते

हैं, न कान छिदवाते हैं बल्कि खुले नैन से हँस-हँस देखते हैं और सुंदर रूप को बस निहारते ही रहते हैं। उन्मनी की यह दशा ही परम सुख है। ऐसा प्रतीत होता है कि गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले जनसाधारण से हठयोगी कट से गये थे; उनके आतंक, चमत्कार, करामात, वेशभूषा और बाह्याचार के कारण आम जनता पर नाथपंथी योगियों का अच्छा असर नहीं पड़ता था। अतः कबीर ने हठयोग के अंतर्गत माने जाने वाले पिपीलिका मार्ग को त्यागकर विहंगम मार्ग को अपनाया। जब इस घर के अंदर ही परमसुख उपलब्ध है, आत्मसाक्षात्कार हो सकता है, तो फिर प्राणायाम द्वारा कुंडलिनी के जागरण की जरूरत ही क्या है। यही तो पिपीलिका मार्ग था जो कठिन यौगिक साधना द्वारा जीभ को उलटकर तालु से सटाने की अनिवार्यता बताता था। इससे कहीं बेहतर तो विहंगम मार्ग था जिसमें प्राणायाम के बिना भी मन उच्च अवस्था को प्राप्त हो जाता है और उस दशा में मनुष्य की बाह्य भौतिक सत्ता के सभी तत्व लुप्त हो जाते हैं, मन समाधि की अवस्था में पहुँचकर इन विषयों से अलग हो जाता है। यही तो परमपद है, चरम आनंद की अवस्था, जहाँ बिना सरोवर के ही आनन्द की तरंगें उठा करती हैं और आत्मा चकवे की तरह जल के न होतें हुए भी किलोल करती रहती है (सूखे सरवर उठै हिलौर, बिनु जल चकवा करत किलोर)। सहज समाधि की इस अवस्था के अपने स्वतंत्र मार्ग की ओर बढ़कर कबीर ने प्रेमभक्ति के सर्वथा नये स्वरूप की कल्पना की। इस तरह ज्ञान, योग और भक्ति तीनों की सम्मिलन भूमि पर कबीर ने अपने अलग प्रकार के पंथ और साधना मार्ग का विकास किया।

कबीर की भक्ति वही नहीं है जो वैष्णवों की है। कबीर संबंधी समालोचना के गड़बड़झाले में इस प्रकार की भ्रांति खूब फैली। अनेक विद्वान यह मानने लगे कि कबीर योगमार्ग छोड़कर दक्षिण भारत के मंदिरों के आलवाड़ भक्तों, रामानुजाचार्य, स्वामी रामानन्द आदि के द्वारा प्रवर्तित भक्ति मार्ग के अनुयायी बन गये थे। इस घट के अंदर ही सिरजनहार है, इस घट के अंदर ही आनन्दलोक है, इस घट के अंदर ही आत्मरूप परमतत्व है, अंतः सहज समाधि द्वारा उससे तादात्म्य हो सकता है, उसे प्रेम और भक्ति से पाया जा सकता है - सहज समाधि की इस पद्धति की यदि आप वैष्णव उपासना पद्धति से तुलना कर देखेंगे तो पता चलेगा कि कबीर का मार्ग सर्वथा भिन्न मार्ग है। सुरति-निरति की इस सहज अवस्था का कोई भी संकेत वैष्णव भक्ति में दिखायी नहीं पड़ता। स्त्री-पुरुष संबंध, पति-पत्नी संबंध, माँ और बेटे का संबंध - ये सारे संबंध कबीर के यहाँ प्रेमाभिव्यक्ति के प्रतीक मात्र हैं।

हठयोगियों और वैष्णवों से भिन्न इन संतों के मुख्य लक्षण बतलाते हुए कबीर ने चार बातों का उल्लेख किया था - किसी से भी बैर न रखना (निर्वैरता), किसी भी चीज की कामना न करना (निहकामता), परमतत्व रूपी स्वामी से प्रेम (साईं सेती नेह) और विषय-वासना का त्याग (विषया सूँ न्यारा) -

कबीर निरवैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
विषया सूँ न्यारा रहे, संतनि का अंग एह।।
(कबीर ग्रंथावली, साखी - 1, पृष्ठ 85)

5.5 कबीर का दर्शन

कबीर के काव्य में परम तत्व, जीव, माया, सृष्टि आदि पर विचार अवश्य ही व्यक्त किये गये हैं, पर ये विचार एक संत के अनुभव-प्रसूत ज्ञानकण हैं। इन्हें दर्शन की एक सुसंगत व्यवस्था के रूप में देखना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त एक और भी समस्या है। कबीर को लम्बी आयु मिली थी। कहते हैं वे 120 वर्ष तक जीते रहे। अगर इसे जनश्रुति मानकर टाल भी दें तो इतना अनुमान करना सहज है कि कम से कम 75-80 वर्ष तक की उम्र उन्होंने अवश्य ही पायी होगी। एक जोगी, फकीर, संत, साधु और भक्त के रूप में उन्होने अनेक स्थानों की यात्रा की थी, भाँति-भाँति के लोगों से मिले थे; तरह-तरह के धर्मशास्त्रियों, चिंतकों, भक्तों, ज्ञानियों आदि से वे टकराये थे। इसी लम्बी प्रक्रिया में कबीर के विचारों का भी निरन्तर परिष्कार हुआ होगा; निरन्तर परिवर्तन, संशोधन और आत्मशोधन के सिलसिले से इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में कबीर दास द्वारा रचित प्रारंभिक बानियों की विचार-दृष्टि और प्रौढ़ावस्था में रचित बानियों की विचार-दृष्टि में तालमेल बिठा पाना मुश्किल होगा। कबीर की बानियों में दिखायी पड़ने वाले विरोधाभासों और परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों को हिन्दी के विद्वानों ने प्रायः नजरअंदाज किया है। इससे भ्रांतियां बढ़ी हैं। वस्तुतः कबीर साहित्य में दिखने वाली असंगतियों का कारण भी यही है कि अपने प्रारंभिक विचारों का अतिक्रमण कर वे निरन्तर विकसित होते रहे हैं।

NMDC-064

चूँकि ऐतिहासिक तिथिक्रम से उनकी रचनाओं का संकलन न हुआ है, न हो सकता है, अत: दार्शनिक प्रणाली के रूप में कबीर की विचार-व्यवस्था को ढूँढ निकालना लगभग असंभव कार्य है।

कबीर अद्वैतवादी हैं। एकेश्वरवादी हैं। द्वैताद्वैत समतत्ववादी हैं। ब्रह्मवादी हैं। नाथपंथी हैं। सूफ़ी हैं। पता नहीं, इस तरह की कितनी धारणाएँ हैं। कबीर के संबंध में इस प्रकार की आलोचनात्मक अराजकता के मूल में हरेक आलोचक का निजी पूर्वाग्रह सक्रिय रहा है। डॉ. रामचंद्र तिवारी ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है - **"वास्तविकता यह है कि कबीर के दार्शनिक विचारों के संबंध में निर्णय करते समय प्रत्येक विचारक किसी न किसी पूर्वाग्रह से प्रेरित रहा है। मोहसिन फानी ने जब कबीर को 'मूवाहिद' (एकेश्वरवादी) कहा था तो उसका निर्णय इस्लाम की धर्मभावना से प्रभावित था। बाबू श्यामसुंदरदास ने जब कबीर को 'ब्रह्मवादी' या 'अद्वैतवादी' कहा था तो वे यह मानकर चल रहे थे कि निर्गुण संतधारा शंकराचार्य के अद्वैतवाद से किसी न किसी रूप में प्रेरित और प्रभावित है। डॉ. बड़थ्वाल ने जब कबीर को अद्वैतवादी कहा था तो वे पूरी निर्गुण संत-परंपरा में व्याप्त विचारों को वेदांत के पुराने मतों के अंतर्गत व्यवस्थित करना चाहते थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जब कबीर को द्वैताद्वैत विलक्षण समतत्ववादी कहा तो वे नाथपंथी योगियों के सिद्धांतों को पृष्ठभूमि में रखकर कबीर की तुलना कर रहे थे। इसी प्रकार जिन विद्वानों ने कबीर को स्वतंत्र विचारक माना है, वे कबीर की प्रतिभा से प्रभावित होने के साथ ही यह मानकर चले हैं कि कबीर परंपरागत शास्त्रीय चिंतन के कायल नहीं थे।''** (कबीर मीमांसा, पृष्ठ 112-113)

कबीर को किसी विशिष्ट धार्मिक साधना के मतपोषक या किसी एक दार्शनिक धारा के समर्थक के रूप में देखने के आग्रह को छोड़कर सीधे-सीधे विभिन्न विषयों पर उनके विचार को समझने का प्रयत्न ज्यादा आवश्यक है। अत: सबसे पहले ब्रह्म पर उनके विचार को हम देखें। इसके बाद अन्य विषय क्रमानुसार आयेंगे।

5.5.1 ब्रह्म

कबीर के काव्य में ब्रह्म एक है। उसका कोई रूप, कोई आकार, कोई व्यक्तित्व नहीं है। वह रूपातीत, गुणातीत है। वह न तो सगुण है, न निर्गुण - दोनों से परे है। वह इस जगत, इस सृष्टि के अणु-परमाणु में व्याप्त है। उसे किसी मूर्ति, किसी देवालय, किसी तीर्थ में नहीं पाया जा सकता। वह हमारे शरीर के अंदर, घट के अंदर, पिंड के अंदर, हमारी प्रत्येक साँस में विद्यमान है। वह अवतार ग्रहण नहीं करता। संसार की प्रत्येक वस्तु में वह छुपा है, अंतर्निहित है। उसका न तो वर्णन हो सकता है, और न उसकी कल्पना की जा सकती है। उसे सिर्फ अनुभव द्वारा पाया जा सकता है - गूंगे के गुड़ के समान। उसके अनेक नाम हैं - राम, गोविन्द, हरि, केशव, करीम, रहीम, खुदा, अल्लाह, निरंजन, अलख आदि। नाम की भिन्नताओं के बावजूद परम तत्व तो एक ही है। उसे न तो वर्गों में बाँटा जा सकता है, न धर्मों में, न जातियों में। उसकी प्राप्ति भक्ति से, प्रेम से, आत्मानुभूति से हो सकती है। योग के अंतर्गत उसकी प्राप्ति सहज समाधि से भी हो सकती है (साधो सहज समाधि भली)। इस साधना में मार्गदर्शन सिर्फ गुरु ही कर सकता है। साधक को परमात्मा से मिलाने की क्षमता के कारण गुरु का स्थान परमात्मा से भी ऊँचा है।

जिन विद्वानों ने यह मान लिया है कि कबीर के ब्रह्म शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त वाले ब्रह्म हैं, अर्थात संपूर्ण जगत में ब्रह्म परिव्याप्त है, उन्हें कबीर के इन पदों पर ध्यान देना चाहिए। कबीर पूछते हैं -

पंडित शोधि कहो समुझाई, जाते आवागमन नशाई।
अर्थ धर्म औ काम मोक्ष, कहु कौन दिशा बसे भाई।।
उत्तर कि दक्खिन पूरब कि पच्छिम, स्वर्ग पताल कि माहीं।
बिना गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नर्क जात धौं काहीं।।

जब गोपाल के अतिरिक्त और कहीं कुछ ठौर बाकी ही नहीं बचा तो फिर पंडित, जरा खोज करके बताओ, कि ऐसी स्थिति में नरक फिर कहाँ है? मुक्ति किस दिशा में बसती है? ये अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष आदि कहाँ किस दिशा में बसे हुए हैं?

इस तरह स्पष्ट है कि कुछ पदों में कबीर ब्रह्म की सर्वव्यापकता, जगत से ब्रह्म की अनन्यता तथा ब्रह्म और जीव में एकात्म अभिन्नता को स्वीकार नहीं करते। तत्वमसि का उपदेश देने वाले अद्वैत ब्रह्मवाद का वे अनेक स्थलों पर खंडन करते हैं। इससे पता चलता है कि दर्शन के स्तर पर कबीर के काव्य मे असंगतियाँ और विरोधाभास भी हैं।

5.5.2 जीव

कबीर जीव और ब्रह्म के पृथक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। अनेक पदों में यह संकेत दिया गया है कि माया के खेल के कारण दोनों अलग हो गये हैं। यह माया ही है जो अविद्या, मोहपाश, विषयासक्ति आदि के द्वारा जीव पर अज्ञान का पर्दा डाल देती है। कबीर कहते हैं "जे सोऊँ तौ दोइ जणाँ, जे जागूँ तौ एक।'' रात्रि के अँधेरे में, अर्थात्, अज्ञान के वश में होने के कारण ब्रह्म और जीव अलग-अलग प्रतीत होते हैं। अगर ज्ञान हो जाए तो 'इस घट अंतर सिरजनहार' को पाया जा सकता है। ज्ञानोदय की दशा में जीवात्मा ब्रह्म का अंश हो जाती है - 'कहु कबीर इहु राम कौ अंसु।' अज्ञान की दशा में यह जीव 'हद का जीवन' (सीमाबद्ध) होता है पर ज्ञानोदय की दशा में 'बेहद का जीव' (असीम में अनुरक्त) होता है। इसी हद के जीव को, सांसारिकता और विषयासक्ति में लीन जीव को संबोधित करते हैं - "जागि रे जीव जागि रे।'

5.5.3 माया

माया ब्रह्म की ही सृष्टि है। उसकी दो शक्तियाँ हैं - आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति से वह सत्य को ढँक देती है और विक्षेप शक्ति से भ्रांति उत्पन्न करती है। उस युग की विभिन्न धर्मसाधनाओं में माया की अवधारणा किसी न किसी रूप में प्रचलित थी। कबीर इससे मुक्त न हो सके। वे उसे ठगिनी, पापिनी, मोहिनी, सर्पिणी आदि की संज्ञा देते हैं। परम तत्व के साक्षात्कार में माया को बहुत बड़ी बाधा बताते हैं। वे माया के ध्वंस और विनाश की बात नहीं करते बल्कि उसे वश में करने, उस पर नियंत्रण करने, उस पर विजय प्राप्त करने की बात करते हैं। वे मानते हैं कि माया संतों की दासी/चेरी बन जाती है - 'कबीर माया दासी संत की, ऊभी देइ असीस।' कबीर काव्य में माया निरंजन की शक्ति है - ब्रह्मांड में जो माया है, पिंड में वही कुंडलिनी है। कुंडलिनी को ही माया माना गया, आद्याशक्ति माना गया। माया रूपी नागिन की फुफकार ही प्रणवध्वनि है। कबीर के पदों में प्रणव की महिमा खूब गायी गयी है।

5.5.4 जगत

संतकाव्यधारा में तथा कबीर की बानियों में जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, उसे जगत, गोचर जगत की संज्ञा दी गई है। यह चंचल है, गतिशील है, अस्थिर है, क्षणिक है, नश्वर है। माया ने ही इस जगत की रचना की है, इसीलिए यह जगत भ्रांतिजनक है। धन, वैभव, आडम्बर, सुखभोग, संपत्ति, पद, अधिकार - ये सब जगत के ही रूप हैं। पर चाहे राजा हो, रंक हो, फकीर हो - सबको जाना है। सभी क्षणभंगुर हैं, मरणशील हैं। यह संसार दिन की हाट है जो सांझ होते ही उठ जायेगी। जगत की निस्सारता और क्षणभंगुरता के बारे में कबीर की अनेक साखियाँ और पद हैं।

क्षणभंगुरता का संवेदनशील चित्र प्रस्तुत करने में कबीर की बानियों को बड़ी सफलता मिली। ऐसे ही एक पद में कबीर पूछते हैं - इस झूठे तन पर गर्व क्यों करते हो? मरने के बाद परिवार वाले इस शरीर को क्षणभर भी घर में रखने को तैयार नहीं होते। जिस शरीर को - जिस पिंड को खीर, खांड और घी से संवारा, उसी शरीर को प्राण निकल जाने के बाद निकृष्ट समझकर जला दिया जाता है। जिस शरीर पर सुरुचि-अभिरुचि के साथ पगड़ी बांधी जाती थी, उसे मृत्यु के बाद कौए अपनी चोंच से खोद-खोद कर खाते हैं। हड्डियाँ सूखी लकड़ी के समान जलती हैं और केश तृण के ढेर के समान जल जाते हैं। कबीर कहते हैं यम का डंडा लगने पर भी लोग मोह नहीं त्यागते -

झूठे तन को क्या गरबावै।
मरै तौ पल भरि रहन न पावै।।
खीर खांड घृत पिंड संवारा, प्राण गए लै बाहरि जारा।
जिहिं सिरि रचि रचि बांधत पागा, सो सिरु चंचु संवारहिं कागा।
हाड़ जरै जैसे लकड़ी झूरी, केस जरै जैसे त्रिन कै कूरी।
कहै कबीर नर अजहुं न जागै, जम का डंड मूंड महिं लागै।।

इस जगत की सृष्टि के संबंध में कबीर की मान्यता का विवेचन करते हुए अक्सर सांख्य, अद्वैत वेदान्त, शैव दर्शन, तंत्रसाधना और योग दर्शन के प्रभाव की चर्चा की जाती है। कुछेक बानियों में अल्लाह के नूर से सारे

NMDC-064

संसार की सृष्टि का उल्लेख होने के कारण कबीर पर इस्लाम के प्रभाव का भी उल्लेख किया जाता है। कबीर ने इस संसार की सृष्टि का स्वरूप समझाते हुए सत्व, रज, तम - इन तीन गुणों अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृति का जिक्र किया है; आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी नामक पंचतत्वों की भी बात की है। सांख्य दर्शन में इन तत्वों को अनश्वर माना गया है जबकि कबीर की बानियों में इन तत्वों को भी नश्वर माना गया है, (नहीं ब्रह्माण्डि, पिंडि पुनि नाहीं पंचतत्व भी नाहीं)। इस प्रसंग में कबीर के दर्शन पर 'कबीर मीमांसा' नामक पुस्तक के लेखक डॉ. रामचंद्र तिवारी का निष्कर्ष यथोचित प्रतीत होता है कि "सांख्य की शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी कबीर ने सांख्य की दृष्टि से संसार को नहीं देखा है।'' (पृष्ठ 128) यही स्थिति अन्य दर्शनों की भी है। कबीर ने न तो अद्वैत दर्शन की दृष्टि से संसार को देखा है, न शैव, शाक्त, तंत्र और योग की दृष्टि से। कबीर की शब्दावली में इन दर्शनों के पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति के कारण ही भ्रांति होती है।

5.5.5 मोक्ष

कबीर इस मायाकृत संसार में आसक्ति नहीं रखते। अतः प्रवृत्तिमार्गी नहीं माने जा सकते। उन्हें आम तौर पर निवृत्तिमार्गी माना जाता है। मोक्ष की धारणा एक विचार-रूढ़ि के रूप में प्राचीन काल से ही चली आ रही थी। कबीर इस धारणा के सर्वग्रासी आंतक से मुक्त न थे। कबीर ने भी उस विचार-रूढ़ि के अनुसार मोक्ष को जीवन-मरण के चक्र, इस संसार में बार-बार आवागमन के चक्र से छुटकारे के अर्थ में ही ग्रहण किया है। प्राचीन विचार-रूढ़ि यह भी रही है कि जीव जीवन-मरण के बंधन से मुक्त होकर भवसागर तर जाता है और वैकुंठ लोक में पहुँच जाता है। पर कबीर इस वैकुंठ लोक में विश्वास नहीं करते। कबीर किसी भी ऐसे वैकुंठ लोक के अस्तित्व का खंडन करते हैं। वे पूछते हैं - राम, मुझे तार कर, मेरा उद्धार कर आप मुझे कहाँ ले जाओगे? वह वैकुंठ कहाँ है? (राम मोहि तारि कहाँ लै जइहौ?) कबीर की दृष्टि में सांसारिक विषय-वासनाओं से विमुख होना ही जीव की मुक्ति है, जीव का मोक्ष है (कबीर जीवन मृतक है, रहै, तजै जगत की आस)।

5.5.6 कबीर के राम

कबीर की बानियों में जिस राम का बार-बार उल्लेख होता है, वह दशरथपुत्र राम नहीं, बल्कि निर्गुण-निराकार परम सत्ता के अर्थ में 'राम' के अस्तित्व को स्वीकारा गया है। कबीर ने भी राम की भक्ति की है और तुलसी ने भी। एक निरगुनिया और दूसरे सगुनिया। दोनों की रामभक्ति के सारतत्व में काफी अंतर है। अलौकिक-अगोचर परम सत्ता के लिए कबीर की बानियों में सिर्फ राम का ही उल्लेख नहीं हुआ है, बल्कि हरि, गोविन्द, निरंजन, केशव, नारायण, माधव, मुकुन्द, विश्वंभर, बीठुला, मुरारि, करीम, रहीम आदि का भी नाम लिया गया है। सदियों से चले आ रहे वैचारिक संस्कारों को व्यक्त करने वाले पारिभाषिक पदों को स्वीकार करने और उनके प्रयोगों द्वारा से ही नयी बात कहने की कबीर की विवशता के कारण अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं।

लेकिन यदि कबीर की बानियों में आये ऐसे प्रसंगों पर ठीक से ध्यान दें तो पता चलेगा कि वे जिस राम की उपासना करते हैं, वह अविगत है, परम तत्व है और वेद-पुराण आदि उसका मर्म नहीं जानते (अविगत की गति लखी न जाइ। चारि वेद जाके सुमृत पुरानां, नौ व्याकरणां मरम न जाना)। न तो उसकी रूप रेखा है, न कोई वर्ण; वह निर्भय, निराकार, अलख-निरंजन, वर्ण-अवर्ण से परे, सृष्टि और लय से परे है। वह लोक और वेद दोनों से परे है। प्राचीन काल से चली आ रही नेति-नेति शैली - अर्थात् वह यह भी नहीं है, वह भी नहीं है - कबीर की बानियों में बार-बार मिलती है।

कबीर की कविताओं में निरूपित यह सर्वव्यापी अगोचर परम तत्व ही सृष्टि का कर्त्ता है। 'बीजक' की एक रमैनी में उन्होंने यह बताया है कि परमात्मा ने स्वंय कुंभकार की भाँति सृष्टि की है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संगृहीत एक पद में वे इस परम तत्व को बाजीगर बताते हैं। कबीर के निर्गुण राम कृपालु हैं, भक्तों के लिए करुणानिधान हैं, दुखभंजन और प्रतिपालक हैं।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी यह स्वीकार किया है कि "कबीर तात्त्विक दृष्टि से अद्वैतवादी नहीं थे और उनके 'निर्गुण राम में और वेदान्तियों के पारिभाषिक निर्गुण ब्रह्म में मौलिक भेद हैं'' (कबीर पृष्ठ 116)

5.5.7 भक्ति

कबीर निर्गुण-निराकार,अरूप-अगोचर परम सत्ता या राम के भक्त थे। प्रश्न यह है कि अरूप और निर्गुण भगवान भक्ति का विषय कैसे हो सकता है? भगवद्विपयक प्रेम को ही भक्ति कहते है। भक्ति के लिए अपने

उपास्य के प्रति अनन्य भावना होनी चाहिए, बिना शर्त उत्सर्ग की भावना, आत्मसमर्पण। कबीर की बानियों में यह अनन्य भावना इस सीमा तक है कि वे कहते हैं - हे गुसाईं! मैं तो तुम्हारा गुलाम हूँ, मुझे बेच दो। सारा तन-मन-धन तेरा है और तेरे लिए ही है। राम ही गाहक और राम ही सौदागर है। कबीर तो तनमनधन न्योछावर कर अपने को, अपने राम पर कुर्बान कर चुके हैं -

मैं गुलाम मोहिं बेचि गुसाईं।
तन-मन-धन मेरा रामजीक ताईं।
आनि कबीरा हाटि उतारा,
सोइ गाहक सोइ बेंचनि हारा।
बेचैं राम तो राखै कौन,
राखै राम तो बेचै कौन।

कबीर के पदों में अनन्य प्रेमभावना की अभिव्यक्ति रतिशृंगार के रूपकों के माध्यम से भी हुई है - तलफै बिन बालम मोर जिया। अथवा एक अन्य पद में मैं अबला पिउ पिउ करूँ निर्गुण मेरा पीव।

नाथपंथियों के प्रभाव से मुक्त होने के बाद कबीर ने भक्ति और प्रीति के दाम्पत्य वाले रूपकों में प्रेम की अनन्यता की तो व्यंजना की है, उसके अतिरिक्त 'सहज समाधि' का एक नया रागात्मक क्षेत्र भी चुना जो जोगियों की समाधि से भिन्न प्रेमपगी सुरति-निरति थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की सृजनात्मकता प्रौढ़ परिपक्व रूप में जीवन के अंतिम समय में नया रूप ग्रहण कर रही थी। इस दृष्टि से 'साधो सहज समाधि भली' जैसे पद रागात्मक व्यंजना की दृष्टि से भी अनूठे और रचनाशिल्प की दृष्टि से भी नयी उद्भावना के प्रमाण हैं। इसी पद में "जहँ-जहँ डोलों सोई परिकरमा'' तथा "खुले नैन पहिचानौं हँसि-हँसि, सुंदर रूप निहारों'' जैसी सुंदर अभिव्यक्तियाँ हैं। कबीर ने नाथपंथियों के प्रभावों का अतिक्रमण कर जब अपना स्वतंत्र विकास किया, तभी प्रेम के बादल की वर्षा से उनकी आत्मा का अंतर्तम भीग गया। प्रेम और भक्ति से आर्द्र सैकड़ों पद हैं जो उनके जीवनकाल के अंतिम दिनों की रचना प्रतीत होते हैं। इन्हीं पदों में भक्ति का नया स्वरूप उभरता है। इस भक्ति को रहस्यवादियों के साधनात्मक रहस्यवाद से भिन्न रूप में देखना और समझना चाहिए। कबीर की भक्ति वैष्णवों की नवधा शक्ति से भी भिन्न है। उपास्य के रूप का संकेत प्रतीकात्मक मात्र होने से नवधा भक्ति से उसका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। रामकुमार वर्मा ने धीरेंद्र वर्मा और ब्रजेश्वर वर्मा द्वारा संपादित 'हिन्दी साहित्य' के दूसरे खंड में संतकाव्य का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। वर्मा जी कबीर की भक्ति के विभिन्न अवयवों का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि उससे निम्नलिखित आवश्यकताओं की पूर्ति हुई-

"ब्रह्म को रूप और गुण में सीमित न करते हुए उसे प्रतीकों द्वारा मानसिक धरातल पर लाने में सफलता, प्रेम के माध्यम से आडम्बर और कर्मकांड की आवश्यकता दूर करना, अशिक्षित और अर्धशिक्षित जनता के हृदय में ब्रह्म की अनुभूति उत्पन्न करने के लिए विविध संबंधों की अवतारणा और गुरु, राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूपकों के सहारे उससे नैकट्य स्थापित करना, सूफी मत के प्रेमतत्व और वैष्णव धर्म के भक्ति तत्व को मिलकार हिन्दू और मूसलमानों के बीच सांप्रदायिकता दूर करना, विश्वव्यापी प्रेम से विश्वधर्म की स्थापना करना जिसमें वर्गभेद और जातिभेद के लिए कोई स्थान नहीं है और इस प्रेम के माध्यम से आत्मसमर्पण की भावनाओं को जागरित करना जिसमें पति-पत्नी के प्रेम की पूर्णता से रहस्यवाद की व्यावहारिक परम्परा का सूत्रपात हो।'' (वही, पृष्ठ 215)

इस तरह स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति में सभी मनुष्यों के लिए समानता की भावना है। इसमें किसी भी बाह्याचार या धार्मिक कर्मकांड को स्थान नहीं दिया गया है। यह भक्ति ईश्वर के दरबार में सबकी समानता और एकता की पक्षधर है।

5.6 सारांश

इस इकाई में आपने कबीर की विचारचेतना और प्रासंगिकता का अध्ययन किया। किसी भी रचनाकार की विचार चेतना का उद्भव और विकास किसी विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति के कारण ही होता है। कबीर अपने युग के प्रगतिशील विचारक और समाज सुधारक थे। उन्होंने किसी भी विचारधारा या दर्शन का अंधानुकरण नहीं किया।

NMDC-064

वे वैदिक संस्कृति के चौखटे के बाहर के यथार्थवादी स्रष्टा रचनाकार थे। कबीर समेत भक्ति-आंदोलन के सभी प्रारंभिक रचनाकारों का साहित्य अपने आप में शुद्ध धार्मिक आंदोलन की अभिव्यक्ति न होकर तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक यथार्थ की टकराहटों और असंगतियों की आदर्शवादी अभिव्यक्ति है। कबीर ने शास्त्रीय ग्रंथों और पोथियों के ज्ञान को पूर्णत: अस्वीकार कर दिया था। कबीर ने 'प्रेमभक्ति' के सर्वथा नए स्वरूप की कल्पना की। इस तरह ज्ञान, योग और भक्ति, इन तीनों की सम्मिलिन भूमि पर कबीर ने अपने अलग प्रकार के पंथ और साधना मार्ग का विकास किया। कबीर की भक्ति में सभी मनुष्यों के लिए समानता की भावना है। इसमें किसी भी बाह्याचार या धार्मिक कर्मकाण्ड को स्थान नहीं दिया गया है। कबीर के यहां ईश्वर तत्व और मानव प्रेम दोनों अभिन्न हैं। कबीर का साहित्य आज भीं प्रासंगिक है। जातियों, धर्मों, वर्गों, आदि में विभाजित समाज की संकटग्रस्तता के समय कबीर का साहित्य प्रासंगिक हो जाता है। कथ्य और सांकेतिक व्यंजनाओं के कारण कबीर की बानियां आज के पाठकों को समकालीन जीवन के बदले हुए संदर्भों में उतनी ही झकझोरती हैं, जितनी मध्यकालीन यथार्थबोध के संदर्भों में।

5.7 अभ्यास/प्रश्न

1. कबीर के काव्य को लेकर फैली भ्रांतियों को संक्षेप में प्रस्तुत कर उनका समुचित खंडन प्रस्तुत कीजिए।
2. मध्य युग के प्रगतिशील रचनाकार के रूप में कबीर का मूल्यांकन कीजिए।
3. संतकाव्यधारा के प्रतिनिधि के रूप में कबीर के काव्य पर सिद्धों तथा नाथों के प्रभाव की विवेचना प्रस्तुत कीजिए।
4. कबीर के दर्शन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालिए।
5. क्या कबीर अद्वैतवादी थे? उनकी विचारधारा का सारसंक्षेप प्रस्तुत कीजिए।

इकाई 6 कबीर का काव्य शिल्प

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 कबीर की भाषा के विभिन्न रूप
6.3 कबीर की भाषा में व्यंग्य
6.4 कबीर के काव्य में भाव सौंदर्य और कलात्मक सौष्ठव
6.5 सारांश
6.6 अभ्यास/प्रश्न

6.0 उद्देश्य

विचारधारा के स्तर पर कबीर से परिचित होने के बाद कवि कबीर से परिचित होना भी आवश्यक है। इस इकाई में हम कबीर की कविता की मुख्य विशेषताएँ जानने जा रहे हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- कबीर की कविता की भाषा के विविध रूपों का विश्लेषण कर सकेंगे;
- जान सकेंगे कि कबीर व्यंग्य के महान कवि हैं; और
- कबीर के काव्य के भावसौंदर्य और कलात्मक उत्कर्ष की व्याख्या कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

इस इकाई में कबीर की काव्यभाषा, उनकी काव्यकला तथा सृजनात्मक सामर्थ्य पर विचार किया गया है। भक्ति काल के प्रारंभ में काव्यभाषा के रूप में अभी न तो खड़ी बोली का पूर्ण विकास हुआ था और न अवधी तथा ब्रजभाषा का। कबीर की भाषा को लेकर भी विद्वानों के बीच गहरा मतभेद है। क्या कबीर की बानियों को धार्मिक साधना के अंतर्गत लिखे गये सांप्रदायिक साहित्य की संज्ञा दे दी जाय? इस प्रश्न पर भी आलोचकों में मतभेद है। अत: कबीर की कला और उनकी बानियों के भावसौंदर्य पर समुचित ढंग से विचार किया गया है। इसी क्रम में कबीर का मूल्यांकन भी सर्वथा नयी दृष्टि से किया गया है।

6.2 कबीर की भाषा के विभिन्न रूप

कबीर के अपने हाथों लिखी उनकी बानियों की हस्तलिखित पोथी अभी तक किसी को भी प्राप्त नहीं हुई है। कबीर की बानियों को उनके शिष्यों ने तथा कबीरपंथी संतों ने ही लिखित रूप प्रदान किया है। यहाँ तक कि राजस्थान के कबीरपंथियों के यहाँ एक तरह का पाठ मिलता है, तो काशी-गोरखपुर आदि पूर्वी अंचलों के कबीरपंथियों के यहाँ दूसरी तरह का पाठ मिलता है। पंजाब में 'गुरु ग्रंथ साहिब' के अंतर्गत भी कबीर की बानियाँ संगृहीत हैं। अत: कबीर साहित्य की तीसरी पाठ-परम्परा ने कबीर की भाषा के संबंध में विद्वानों के बीच मतभेद बढ़ाया ही है। कबीर की बानियों के ये तीनों प्रकार के पाठ सोलहवीं-सत्रहवीं सदी की हस्तलिखित पोथियों पर आधारित हैं। कबीर के जीवनकाल में संगृहीत किसी भी हस्तलिखित पोथी के अभाव के कारण प्राय: सभी पाठ अनुमानों पर निर्भर हैं। कबीर ग्रंथावली के रूप में डॉ. माता प्रसाद गुप्त और डॉ. पारस नाथ तिवारी द्वारा अलग-अलग ढंग से संपादित पुस्तकें उपलब्ध हैं। ये तीनों ग्रंथ प्राय: दादूपंथी एवं निरंजनी पंथी संतों की

NMDC-064

राजस्थानी परम्परा पर निर्भर हैं। 'संत कबीर' नाम से संकलित डॉ. रामकुमार वर्मा का पाठ पंजाबी पाठ परम्परा पर निर्भर है। बाबू श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित 'कबीर ग्रंथावली' का पाठ भी पंजाबी परम्परा पर निर्भर करता है क्योंकि उन्होंने भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित कबीर की बानियों की भाषा संरचना को पाठ निर्धारण का आधार बनाया है। इधर ही डॉ. शुकदेव सिंह द्वारा संपादित 'बीजक' का प्रकाशन हुआ है। इसमें अवधी-भोजपुरी अथवा पूर्वी प्रदेश की पाठ परम्परा को भाषा संरचना की दृष्टि से निर्णायक महत्व प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त कबीर बानियों के ऐसे ग्रंथ भी हैं जिनमें खड़ी बोली को भाषा संरचना की दृष्टि से प्रमुखता प्रदान की गई है।

इससे स्पष्ट है कि कबीर की बानियों में सिर्फ शब्दभंडार की दृष्टि से ही नहीं, उच्चारणभेद, वाक्यगठन, सर्वनाम तथा क्रियापदों के प्रयोगों के लिहाज से भी कहीं पंजाबी भाषा के लक्षण प्रकट होते हैं तो कहीं राजस्थानी भाषा के, कहीं अवधी-भोजपुरी के तो कहीं खड़ी बोली के। मध्ययुग में प्राप्त उल्लिखित चार बोलियों की अलग-अलग प्रकार की भाषा संरचनाओं के मिश्रित प्रयोगों से कबीर की भाषा के संबंध में निर्णय की जटिलता से बचने के लिए सुगम उपाय यह निकाला गया कि उसे 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा जाए। दरअसल आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा ही इस प्रवृत्ति का आरंभ किया गया था। 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में उनकी शंकाओं और ऊहापोह को स्पष्ट रूप में आप देख सकते हैं :

''उनकी भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।'' (पृष्ठ 75)

इस उद्धरण से यह भी पता चलता है कि आचार्य शुक्ल कबीर की भाषा के संबंध में प्रचलित विवाद को सिर्फ पंजाबी, अवधी-भोजपुरी, खड़ी बोली तक ही सीमित नहीं रखते। ब्रजभाषा का उल्लेख कर वे इस पेचीदा समस्या को और भी उलझा देते हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस समस्या के समाधान के बजाय एक नया पहलू जोड़ देते हैं। उनका कहना है कि ''साखियों की भाषा में खड़ी का जितना व्यवहार मिलता है, उतना सबदी में नहीं। उसमें ब्रजी के शब्द कुछ अधिक मिलते हैं। रमैनी में पूर्वी रूप बराबर दिखाई देते हैं; जैसे - कोई-कोई या कोऊ-कोऊ के स्थान पर केऊ-केऊ। इस प्रकार विचार करने से यह कहा जा सकता है कि कबीर की तीन प्रकार की कृतियों में स्थूल रूप से हिन्दी की तीन उपभाषाओं की स्पष्ट और निश्चित प्रवृत्ति मिल जाती है।'' **(हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग-1, पृष्ठ 152)**

1993 में प्रकाशित 'कबीर वाड्.मय' (तीन खंडों में) के संपादक डॉ. जयदेव सिंह और डॉ. वासुदेव सिंह ने कबीर की भाषा के स्वरूप पर नये ढंग से विचार किया है। चूँकि रमैनी के पाठालोचन में डॉ. शुकदेव सिंह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कबीर की भाषा का मूल ढाँचा अवधी-भोजपुरी पर अवलम्बित है, अत: कबीर वाड्.मय के संपादक-द्वय का कहना है कि साखियों और पदों में पंजाबी तथा राजस्थानी के अधिक प्रयोग असंगत प्रतीत होते हैं। इसे वे कबीर की स्वाभाविक भाषा भी नहीं मानते। इन दोनों संपादकों की स्थापना से कबीर साहित्य के विद्यार्थी के नाते आपका परिचित होना आवश्यक है। स्थापना इस प्रकार है -

''वस्तुत: कबीर की भाषा के संबंध में अंतिम निर्णय टेढ़ी खीर है। अनुमान के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि संत कबीर के जीवन का अधिकांश काशी में बीता, उनके भाषागत संस्कार अध्ययन की अपेक्षा श्रवण से बने, उन्होंने विभिन्न स्थानों की यात्रा की तथा वे अनेक प्रकार के साधुसंतों के संपर्क में आये, अत: उनकी भाषा का मूल आधार पूर्वी रहा होगा, जिसमें अन्य बोलियों और भाषाओं के लोकप्रचलित शब्द अनायास ही आ गये होंगे।'' (कबीर वाड्.मय, खंड-1, पृष्ठ 16)

कबीर की भाषा के पारिभाषिक शब्द

कबीर की कविता के तीन रूप हैं- साखी, सबत और रमैनी। इन तीनों प्रकार की बानियों में मध्यकालीन धर्मसाधनाओं, भारतीय दर्शन, इस्लाम तथा सूफीमत के पारिभाषिक शब्दों की भरमार है। अनेक स्थलों पर कबीर की बानियों के अर्थ ग्रहण में इन शब्दों की वजह से आम पाठकों को बहुत कठिनाई का अनुभव होता है। यहाँ तक कि मध्यकालीन साहित्य के विशेषज्ञ विद्वानों का भी दिमाग चकराने लगता है। इसीलिए आप देखेंगे कि कबीर के साहित्य पर प्रकाशित आलोचनाग्रंथों या कबीर बानियों का पाठालोचन करने वाले ग्रंथों के अंत में पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले परिशिष्ट जोड़े गये हैं। बौद्ध, जैन, योग, तंत्र, शैव, शाक्त और सूफी मतों से संबंधित अनेक ऐसे शब्दों के अर्थों को लेकर भी विद्वानों के बीच विवाद छिड़ा हुआ है। अत: एक ही साखी या पद के अनेक प्रकार से अर्थ किये जाते हैं, उनके अभिप्रायों को लेकर माथापच्ची करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए अनहद नाद, सुरति-निरति, उन्मनी, कुंडलिनी, इड़ा-पिंगला, गगन गुफा, सहज समाधि, गगनघटा, निरंजन,

खसम, सुधारस, शून्य, पिंड, अंड, घट, हंसा, अच्छर, शब्द, गर्भत्रास जैसे सैकड़ों शब्दों की एक तालिका बनायी जा सकती है। नाथपंथी योगियों की धर्मसाधना से संबंधित शास्त्रीय ग्रंथों में इन शब्दों के निश्चित परिभाषिक अर्थ हैं। कबीर की बानियों में इन शब्दों के प्रायः वही अर्थ हैं। इसी तरह सूफी मत और इस्लाम से संबंधित शब्दों में वजूद, गैब, दीदार, इश्क, नूर, अल्लाह, खुदा, करीम, काबा, बुत, पीर, मुरीद, रब, मुरसिद, रोजा, नमाज, कलमा, बिहिश्त, बन्दा, मस्तान, आदि पर गौर किया जा सकता है। इनके अर्थ भी सूफी धर्मसाधना की विभिन्न परंपराओं द्वारा निश्चित कर दिये गये हैं। कबीर इनका उपयोग भी प्रायः उन्हीं अर्थों में करते हैं।

पर उलटबाँसियों, रूपकों, अन्योक्तियों में इन पारिभाषिक शब्दों का तात्विक अभिप्राय नयी अर्थभंगिमा ग्रहण कर लेता है चूँकि लक्षणा तथा व्यंजना की सहायता से कृतिकार का तात्पर्य वाच्यार्थ तक सीमित नहीं रहता है। यद्यपि सिद्धों और नाथों ने भी उलटबाँसियों, रूपकों तथा अन्योक्तियों में इन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग दोहरे अर्थों में किये हैं, पर इन प्रयोगों में वाच्यार्थ की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रेम और भक्ति का संदर्भ देकर कबीर ने पारिभाषिक शब्दों के अभिप्रायों को मध्ययुग की सामाजिक आवश्यकताओं के संदर्भ में नयी प्राणवत्ता दे दी है।

विभिन्न धर्मसाधनाओं के पारिभाषिक पदों के अतिरिक्त जुलाहों, बुनकरों, व्यापारियों तथा खेतिहर आबादी के विभिन्न धंधों से संबंधित पेशेवर शब्दावली का उपयोग भी कबीर की बानियों में बहुतायत से मिलता है।

धर्मसाधना, दर्शन, काव्यपरम्परा, कृषि, व्यापार, दस्तकारी और हाट बाजार - इन सभी स्रोतों से लिये गये शब्दों के बाहुल्य ने कबीर की बानियों में ताजगी, सादगी, जिंदादिली और सजीव व्यंजकता का संचार कर दिया है। सामाजिक तथा धार्मिक विवाद से जुड़े प्रश्नों पर कबीर की भाषा सीधी चोट करने, विरोधियों को मर्माहत करने और भेद की बात को धारदार ढंग से खोलकर रखने की अद्भुत सामर्थ्य का परिचय देती है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह स्थापना लोकोक्ति का रूप ले चुकी है :

"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में कहना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया - बन गया तो सीधे सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा काव्य कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है।" (कबीर, पृष्ठ 170)

कबीर की भाषा की शक्ति

कबीर की भाषा पर अपनी टिप्पणी के क्रम में आचार्य द्विवेदी ने एक अन्य स्थल पर यह भी कहा है कि "कबीर की भाषा से ज्यादा साफ और जोरदार भाषा की संभावना भी नहीं है।" (वही, पृष्ठ 174) आखिर भाषा के ये गुण कबीर में आये कहाँ से? जाहिर है आप यह भी जानना चाहेंगे कि जब वे पढ़े लिखे नहीं थे तो फिर युग-युग तक जीवित रहने वाला यह क्लासिक साहित्य उन्होंने रचा कैसे? जिस साखी में कबीर ने 'मसि कागद छुवों नहीं/कलम गहों नहिं हाथ' जैसी अभिव्यक्ति की है, उसी में उनका यह भी वक्तव्य है - "कबीर मुखहि जनाई बात।" इस वक्तव्य को यदि आप संतों की काव्यसृजन प्रक्रिया की कुंजी बनायें तो बहुत सारी बातें स्पष्ट हो जायेंगी। मसलन यह बात स्पष्ट होगी कि उस युग के सामाजिक और धार्मिक विवादों ने संतों और दलित-उत्पीड़ित जनता के बीच सवाल-जवाब, बहस और ज्ञानोदय की एक नई वाचिक परम्परा का सूत्रपात किया था। इस परंपरा को गढ़ने और विकसित करने में लोकायत, सांख्य, जैन, सिद्ध और नाथों के अलावा सूफियों का बहुत बड़ा योगदान था। ब्राह्मणवाद और वैदिक संस्कृति के विरुद्ध संघर्ष में शास्त्रीय ग्रंथों को नकारने तथा अनुभव के आधार पर नई तर्कव्यवस्था निर्मित करने में भ्रमणशील श्रमणों की पहली युक्ति यही होती थी कि पोथियों और शास्त्रों को छोड़ो, जब तक इनसे छुटकारा नहीं पाते तब तक तुम ज्ञान का साक्षात्कार नहीं कर सकते। "पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई" जैसे अनेक उक्तियाँ इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं। आत्म-तत्व, परम सत्य और प्रेम जिस शिखर पर अवस्थित हैं, वहाँ पहुँचने का रास्ता फिसलन भरा है। यहाँ तक कि चींटी भी उस रास्ते को पार न कर फिसल कर गिर पड़ती है। पर इन मूर्ख पंडितों को तो देखो, जो वहाँ पहुँचने के लिए बैलों पर अपनी ज्ञानगठरी लाद कर चल पड़े हैं :

कबिरा का घर सिखर पर, जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न टिकै पिपीलिका, पंडित लादे बैल।।

NMDC-064

अपने जीवनानुभव के साक्ष्य पर आधारित तर्कों से कबीर पंडित् को, मुल्ला को, धार्मिक मठाधीशों को, योगियों और अवधूतों को निरुत्तर कर देते हैं; जातिप्रथा के समर्थकों की बोलती बंद कर देते हैं; धार्मिक कर्मकांड और बाह्य आडम्बरों की धज्जियाँ उड़ा देते हैं। दरअसल यह सब शब्द चयन, कथनभंगिमा और भाषा की व्यंजनाशक्ति का कमाल न होकर सामाजिक दृष्टि से प्रासंगिक नई तर्कप्रणाली की शक्ति है जो कबीर की बानियों में प्रखरता, ओज और नई स्फूर्ति उत्पन्न करती है। आजीविका के लिए मेहनत-मशक्कत करने वालों की यह स्पन्दनशील वाग्धारा है जिसका आवेग परजीवी समाज की शास्त्रबद्ध रूढ़िवादिता की चट्टान पर निरंतर आघात कर रहा है। वस्तुतः उस युग के संदर्भ में यह भाषा नहीं, बल्कि जन-जन की भाखा है - भाखा बहता नीर।

कबीर की काव्यभाषा की शक्ति का मूल्यांकन शास्त्रीय मानदंडों के आधार पर करना व्यर्थ है। यद्यपि इस काव्यभाषा में अनेक स्थलों पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत-प्रशंसा, काव्यलिंग जैसे अलंकारों के चमत्कार और उनकी छटा मिल जायगी, पर कृतिकार के कवित्व की आत्मा अलंकार सौंदर्य में अंतर्निहित नहीं है। सारभूत सत्यों को चुभने वाली मार्मिक उक्तियों में ढालने की यह कला सपाट-बयानी को भी सजीव और विचारोत्तेजक बना देती है।

विभिन्न प्रकार के श्रोतासमूहों को संबोधित कबीर की बानियों के तेवर और मिजाज से उनकी काव्यभाषा में विविधता आई है। बातचीत-बहस, समझाने-बुझाने और तर्क-वितर्क करने वाली सीधी-सादी भाषा भी चोट और व्यंग्य के कारण धारदार हो गई है। पर भक्ति और प्रेम की व्यंजना करने वाली बानियों में अजीब सी मिठास, निजी एकान्त साधना की तल्लीनता और घनीभूत रसमयता है। उलटबाँसियों में उलटीपुलटी कथनभंगिमा और अनेकार्थी प्रतीक-योजना कहीं-कहीं धक्कामार चमत्कारप्रियता का आस्वाद प्रदान करती है, कहीं बौद्धिक दुरूहता के आवरण में रहस्य के उद्‌घाटन के लिए आमंत्रित करती है। प्रचलित शब्दों के वाच्यार्थों पर निर्भर रहकर कबीर की उलटबाँसियों को नहीं समझा जा सकता। इसके लिए सिद्धों और नाथपंथियों की साधना संबंधी शब्दावली के निश्चित पारिभाषिक अर्थों तथा प्रतीकयोजना के अभिप्रायों को जानना आवश्यक होता है। इसीलिए इन रचनाओं के प्रसंग में यह कहा जाता है कि ये 'संधा भाषा' में रचित हैं अर्थात् रहस्य से आवृत्त अभिप्रायों को व्यंजित करने वाली भाषा में। कबीर की बानियों में व्यवहृत 'संधा भाषा' की प्रणाली सिद्धों और नाथों की 'संधा भाषा' जैसी ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्र-ज्ञानी पंडितों की परीक्षा लेने तथा उनके ज्ञानदर्प को चुनौती देने के उद्देश्य से उन्होंने अनेक उलटबाँसियों की रचना की थी। उदाहरण के लिए आप इस पद को देख सकते हैं :

ऐसा अद्‌भुत मेरे गुरु कथा, मैं रहा उमेषै।
मूसा हस्ती सौं लड़ै, कोई बिरला पेषै।।
मूसा पैठा बाँबि मैं, लारै साँपिनि धाई।
उलटि मूसै साँपिनि गिली, यहु अचरज भाई।।
चींटी परबत उखारिया, लै राख्यौ चौड़े।
मुर्गी मिनकी सों लड़ै, झल पांनी दौड़ै।।
सुरही चूषै बछतलि, बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुँनी भया, सार दूलहिं मारै।।
भील लुका बन बीझ मैं ससा सर मारै।
कहैं कबीर ताहि गुर करौं, जो या पदहिं बिचारै।।

इस उलटबाँसी द्वारा मूलतः यह कहने का प्रयत्न किया गया है कि सामान्य जीव यद्यपि विषयों के वश में रहता है पर जो सिद्ध साधक होता है वह विषयों पर नियंत्रण कर लेता है। कबीर कहते हैं - मेरे गुर ने एक अद्‌भुत सत्य का कथन किया; मैं अचरज में पड़ गया (उमेषै)। अचरज की बात यह है कि चूहा हाथी से लड़ पड़ा (अर्थात् साधक माया को पछाड़ बैठा)। इस घटना को कोई बिरला ही जान पाया है। साधक (चूहा) विषयों (बाँबी) में पैठ गया और विषय रूपी सर्पिणी उसके पीछे पड़ गई। किंतु अचरज की घटना तो यह है कि चूहे ने पलट कर साँप को निगल लिया अर्थात् साधक विषयों को वशीभूत कर लेता है। साधक की अंतःवृत्ति (चींटी) ऐसी होती है कि वह विषय रूपी पर्वत को उखाड़ फेंकती है और उसे गड्ढे में फेंक देती है। साधक (मुर्गी) वासना (बिल्ली) से लड़ पड़ता है और विषयासक्ति की अग्नि भक्ति के जलाशय का रूप ले लेती है। गाय बछड़े के नीचे भाग को मुँह से चूसती है अर्थात् भक्ति से आत्मतत्व की प्राप्ति होती है और आत्मतत्व बोध (बछड़ा) से आनन्द (दूध) की सृष्टि होती है। साधक का चित्त (नेवला) ऐसा गुणी हो गया है कि वह वासना से उन्मत्त सिंह को मार डालता है। मोह रूपी शिकारी डर के मारे सघन वन में छिप जाता है और साधक (खरगोश) उस पर ज्ञान के बाण से प्रहार करता है। कबीर का कहना है कि जो इस पद के अर्थ को समझ कर बता देगा, उसे मैं

अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लूँगा। कबीर पंथी संत आज भी राग रामकली में खँजड़ी पर इस उलटबाँसी को गाकर पंडितों को चुनौती देते हैं।

इस पद से आप समझ गये होंगे कि उलटबाँसी क्या चीज़ है। आपने देखा कि उलटीपुलटी भाषा में गुत्थी रखने, किसी सत्य को पहेली के रूप में पेश करने और असंभव घटनाओं की अतिरंजित कल्पनाओं के प्रतीकात्मक अर्थ व्यंजित करने के उद्देश्य से रचित बानियों की भाषा को 'संधा भाषा' की संज्ञा दी गई थी।

कबीर को संधा भाषा में रचित उलटबाँसियों की यह परम्परा सिद्धों और नाथों से मिली थी। उदाहरण के लिए सिद्धों की बानियों के संग्रह 'चर्यापद' तथा गोरखनाथ की बानियों के संग्रह 'गोरखबानी' को आप देख सकते हैं। सिद्ध डिंडिपा कहते है बैल ब्याता है, गाय बांझ रहती है और बछड़ा तीनों समय दुहा जाता है। इसी तरह गोरखनाथ एक पद में कहते हैं जल में आग लगी, मछली पर्वत पर चढ़ गई और खरगोश जल में रहता है। ये सारे शब्द प्रतीक हैं जो सातवीं-आठवीं सदी से ही योगियों की साधना में अन्य अर्थ की व्यंजना के लिए उपयोग में लाये जाते रहे हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नामक पुस्तक के एक अध्याय "योग परक रूपक और उलटबाँसियाँ'' में ऐसे शब्दों की तालिका प्रस्तुत की है। मेरा परामर्श है कि आप लोग इसे अवश्य पढ़ें। इसी अध्याय में बताया गया है कि बौद्ध साहित्य के एक वक्तव्य के आधार पर सहज यान और वज्र यान के साधकों ने 'संधा भाषा' पद का प्रयोग किया था। महामहोपाध्याय पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य की यह मान्यता है कि संधा भाषा मूलतः संस्कृत 'संधाय' शब्द का अपभ्रष्ट रूप है जिसका अर्थ होता है अभिप्राय युक्त भाषा। परन्तु हिन्दी के अनेक विद्वानों ने इसका रूप बदल कर 'संध्या भाषा' कर दिया और गोधूलि बेला जैसी स्थिति के अर्थ में - अथवा अंधेरे और प्रकाश के बीच की अस्पष्ट स्थिति के अर्थ में इसे प्रचारित कर दिया।

6.3 कबीर की भाषा में व्यंग्य

जनसाधारण को धर्मान्ध बनाने वाले पंडित और मुल्ला से कबीर सार्वजनिक रूप से प्रश्न पूछते हैं। कबीर के प्रश्नों की तर्कशक्ति में गहरा व्यंग्य छुपा रहता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद रमैनी से उद्धत है -

पढ़ि-पढ़ि पंडित करू चतुराई, निज मुक्ति मोहिं कहु समुझाई।
कहँ बस पुरुष कहाँ सो गाऊँ, पंडित मोहिं सुनावहु नाऊँ।
चारि वेद ब्रह्में निज ठाना, मुक्तिक मर्म उनहुँ नहिं जाना।
दान-पुन्य उन बहुत बखाना, अपने मरन की खबरि न जाना।
एक नाम है अगम गँभीरा, तहवाँ स्थिर दास कबीरा।।
चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई न ठहराय।
आवागमन की गम नहीं, तहँ सकलो जग जाय।।

हे पंडित! तुम शास्त्र पढ़-पढ़ कर चतुराई करते फिरते हो और लोगों के बीच मुक्ति के विषय में उपदेश झाड़ते हो। जरा मुझे भी तो समझाओ कि तुमने मुक्ति का स्वयं क्या अनुभव किया है? लोगों को तो यह बताते हो कि मुक्ति परम पुरुष से मिलन है - लेकिन मुझे यह तो बताओ कि वह परम पुरुष कहाँ वास करता है? उसका गाँव कहाँ है? उस परम पुरुष का नाम क्या है?

(जब पंडित चुप लगा जाता है तो कबीर फिर कहते हैं :) तुम बताते रहते हो कि ब्रह्म ने चारों वेदों की रचना की। पर क्या वे भी मुक्ति का मर्म जान पाये? तुम कहते हो कि मुक्ति के लिए ब्रह्मा ने दान-पुण्य का बार-बार बखान किया है। पर मैं पूछता हूँ कि क्या उन्हें भी अपनी मृत्यु की खबर थी? क्या उन्हें पता था कि मृत्यु के बाद क्या होता है? कबीर तो सिर्फ एक तत्व को जानता है जो कि अगम और गंभीर है। कबीर उस एक तत्व पर अडिग रूप से कायम है - और वह परम तत्व है आत्मतत्व।

इस परम तत्व तक चींटी (मन) भी नहीं पहुंच सकती और न वहाँ बुद्धि (राई) स्थिर होकर रुक सकती है, यह आत्म-रूपी परम तत्व आवागमन से परे है और देशकाल से भी परे है। अज्ञान के बंधन से छुटकारा पाकर ही

NMDC-064

आत्मरूपी परम तत्व की अनुभूति हो सकती है यह आत्मानुभूति ही मुक्ति है। कबीर मूर्तिपूजा के खंडन के सिलसिले में टिप्पणी करते हैं-

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पुजूँ पहाड़।
याते वह चक्की भली पीस खाय संसार।।

पत्थर की देवमूर्ति की तुलना में चक्की कहीं बेहतर है जो रोजाना आटा पीसने के काम आती है। इस प्रकार की साखियों में धार्मिक आडम्बर के खंडन से एक सत्य की उद्घोषणा होती है। कबीर यह भी कहते हैं कि देखो तो भला - 'मूरति से दुनिया फल माँगै, अपने हाथ बनाये।' अपने ही हाथों रची गई मूर्ति से दुनिया फल मांगती है, उसकी पूजा-अर्चना करती है। 'साधो देखो जग बौराना' शीर्षक पद में कहा गया - "आतम छोड़ि पषानैं पूजैं तिनका थोथा ज्ञाना। आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना।।'' निर्जीव पत्थर को लोग परब्रह्म परमेश्वर के रूप में सत्य मान बैठें हैं, जबकि अपने भीतर अवस्थित आत्मचेतना को, आत्मसत्ता को पहचानने-स्वीकारने के लिए तैयार नहीं हैं। मुसलमानों की भी यही स्थिति है

कांकड़ पाथर जोड़ि कै मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।

खुदा सर्वव्यापक है तो फिर जोर से पुकारने का क्या मतलब? क्या वह बहरा है? काजी की कथनी और करनी में अंतर का उल्लेख कर कबीर कहते हैं -

कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रम्ह हतै तब दोइ।
चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यूँ साँचा होइ।।

जब काजी स्वाद के वशीभूत होकर जीव का वध करता है, उस समय वह ब्रह्म को द्वैत की दृष्टि से देखता है - अर्थात् अपने लिए एक ब्रह्म और जीव के लिए दूसरा ब्रह्म। किंतु मस्जिद पर चढ़कर जब 'ला इलाह इल्लिल्लाह' की घोषणा करते हुए बांग देता है तो वह यह एलान कर रहा होता है कि ब्रह्म एक है। ईश्वर के दरबार में काजी क्या सफाई देगा?

कलियुग के स्वामी-संन्यासी पर व्यंग्य और छींटाकशी के द्वारा उनका चरित्र उद्घाटित किया गया है। कबीर की साखी है -

कलि का स्वामी लोभिया, पीतल धरी खटाइ।
राजदुबारै यों फिरैं, ज्यों हरहाई गाइ।।

कलियुग के दिखावटी साधु लोभी होते हैं जैसे पीतल के बर्तन में पड़ी खटाई। दूसरों के खेत चलने वाली गाय के समान राजदरबारों में लोभवश चक्कर काटते रहते हैं। इसी तरह गोरखपंथी योगियों के बाह्य आडम्बरों पर भी कबीर की दृष्टि पड़ी। उन्होंने पूछा -

मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपरा।
आसन मारि मंदिर में बैठे, नाम छाँड़ि पूजन लागे पथरा।
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौलें, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम ज़राय जोगी होय गैले हिजरा।।
मथवा मुँड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले, गीता बाँच के होय गैले लबरा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, जम दरवजवाँ बाँधल जैबे पकरा।।

यह उल्लेखनीय है कि कबीर सिर्फ हिन्दू-मूस्लिम कर्मकांड का ही भंडाफोड़ नहीं करते बल्कि सिद्धों, जोगियों, शैवों, शाक्तों और जैनियों के साधना-संबंधी झूठे आडम्बरों और बाह्याचारों की भी खिल्ली उड़ाते हैं।

जातिप्रथा के समर्थकों - खासकर ब्राह्मणवादी पंडितों पर कबीर ने गहरा चुभता हुआ व्यंग्य किया था-
जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाये। आनबाट तुम काहे न आये?

मध्ययुग के सामाजिक रूढ़िवाद, शास्त्रीय पुरोहितवाद और कथनी-करनी में अंतर बरतने वाले पाखंडी समाज की अनैतिकता पर तर्कबाण बरसाने के क्रम में कबीर के काव्य की व्यंग्यात्मकता गहरी मार करती है। इस दृष्टि से मध्ययुग के सर्वाधिक जागरूक कृतिकार के रूप में वे आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं। कबीर के व्यंग्य उनकी युगबोधक चेतना के औजार के रूप में लोकोक्ति का रूप ले चुके हैं।

कबीर की काव्यभाषा का सौंदर्य

कबीर ने अपने जमाने की जीती जागती रोजमर्रा की भाषा में अपनी बानियों की रचना की है। उनकी कविताओं में विभिन्न स्रोतों से शब्दों का चयन किया गया है। एक तरफ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के जन-प्रचलित तथा आवश्यकतानुसार पारिभाषिक शब्द लिये गये हैं, तो दूसरी तरफ अरबी-फारसी स्रोत से आये शब्दों की संख्या भी काफी है। आधुनिक भारतीय भाषाओं का यह अभ्युदय काल है। अत: खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, भोजपुरी के उच्चारण तथा शब्दसंगीत ने कबीर की बानियों में अद्‌भुत ढंग की सजीवता का संचार किया है। राम स्वरूप चतुर्वेदी ने कबीर की भाषा की सृजनधर्मी विविधता की ओर इशारा करते हुए ठीक ही कहा है "कबीर में कई तरह के रंग हैं, भाषा के भी और संवेदना के भी। हिन्दी की बहुरूपी प्रकृति उनमें खूब खुली है।" (हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृष्ठ 46)

कबीर अपने समय की जिस दलित-पीड़ित जनता को संबोधित कर रहे थे, उसके सगे अनुभवों की निधि से ही शब्द, वाक्यांश, मुहावरे, क्रियापद और चुस्त उक्तियाँ छांटते थे। कबीर समेत सभी मध्यकालीन संतों ने सिद्धों-नाथों की वाचिक परम्परा का परिष्कार किया था। संतों की वाग्धारा की टकसाल से निकलने वाली बानियों पर जनसाधारण के संघर्ष और कष्ट से परिपूर्ण जीवनानुभव की गहरी छाप है। सत्य की आँच में तपी और ढली कबीर की काव्यभाषा में एक ओर यदि दो टूक खरापन है, तो दूसरी ओर उस जमाने की पीड़ित मानवता के लिए करुणा और गहरी आत्मीयता भी। अगर आई.ए. रिर्चड्स की भाषा में आलोचनात्मक मूल्यांकन के नये मानदंड की दृष्टि से देखें तो पता चलता है कि भाषिक संरचना में कबीर एक तनाव के कम्पन को बनाये रखते हैं। तार्किकता और प्रेम की सहजानुभूति के बीच सेतु भी है और टक्कर भी। कहना चाहिए कि कबीर का सृजनकर्म इसी तनी हुई प्रत्यंचा पर अपनी टंकार प्रतिध्वनित करता है जिससे संभाव्य अर्थों के झरोखे खुलने लगते हैं।

काव्यरूप और छंदविधान

कबीर की बानियों में 14 काव्यरूपों का उपयोग हुआ है। उदाहरण के लिए साखी, सबदी, रमैनी, चौंतीसा, चाँचर, हिंडोली, विप्रमतीसी आदि। ये सभी काव्यरूप सिद्धों और नाथों की काव्यपरम्परा से संत कवियों को प्राप्त हुए थे। यद्यपि ये सभी काव्यरूप लोक गीतों की वाचिक परम्परा में भी उपलब्ध थे, पर जोगियों की बानियों में इनके पदबंध और रूपविन्यास एक निश्चित स्वरूप ग्रहण कर चुके थे। अत: इस्तेमाल में घिसे जा चुके रूपबंधों को कबीर ने अपनी प्रतिभा से और भी क्षमतावान बना दिया। इस संदर्भ में 'साखी' का उल्लेख किया जा सकता है। संस्कृत शब्द साक्षी का ही अपभ्रंश रूप साखी है। सिद्ध साहित्य और नाथ साहित्य में इस काव्यरूप को ज्ञान की आंख माना गया। किसी अद्‌भुत सत्य की प्रतीति कराने के उद्देश्य से प्राय: 'साखी' का ही उपयोग किया गया। कबीर की बानियों में रमैनी एक ऐसा काव्यरूप है जिसमें दोहा और चौपाई छंदों का सम्मिलित प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त चाँचर ऐसा लोकछंद है जो वसन्त ऋतु के मादक परिवेश के अनुकूल माना जाता है। कबीर की बानियों में प्रेमानुभूति तथा आध्यात्मिकता की संवदेना व्यक्त करने के लिए प्राय: चाँचर का प्रयोग किया गया। उनके गेय पदों में हिंडोला, कहरा, बेलि आदि को अपनाया गया है।

छंदों की दृष्टि से दोहा, सोरठा, चौपाई, वीर, अरिल्ल, ताटंक, लावनी, उल्लाला आदि का भरपूर उपयोग कबीर के काव्य में देखा जा सकता है। 'कबीर मीमांसा' नामक अपनी पुस्तक में डॉ. रामचंद्र तिवारी ने यह माना है कि छंदों के प्रयोग में कबीर के यहाँ त्रुटियाँ बहुत हैं। डॉ तिवारी इसका संदर्भ सहित स्पष्टीकरण करते हैं - "छंदों की रचना करते समय भी कबीर ने संगीत को ही महत्व दिया है और इसी कारण छंदों की शास्त्रीय मर्यादा भंग हो गई है।" (वही, पृष्ठ 158)

आज भी उत्तर भारत में योगियों और संतों की रमती हुई टोलियों और उनके पंथों के आश्रमों में बानियों के गायन की परम्परा मौजूद है। राजा भरथरी के गीत गाने वाले जोगी तथा कबीर पंथी संत इस परम्परा की अलग-अलग प्रकार की कड़ियाँ हैं।

गुरु ग्रंथ साहिब में संगृहीत कबीर के पद विभिन्न रागों में वर्गीकृत कर प्रस्तुत किये गये हैं। मसलन सिरी रागु, रागु गउड़ी, रागु आसा, रागु गूजरी आदि के संकेत पद के अंत में दे दिये गये हैं। डॉ. रामचंद्र तिवारी का अनुमान है कि कबीर को तत्कालीन वाद्यों की बनावट का ज्ञान था; उनके ध्वनिभेदों से भी वे परिचित थे। दरअसल सांसारिकता के जंजाल में फंसे लोगों की रागद्वेष ग्रंथि को विगलित करने और हृदय की तरलता की मधुर व्यंजना करने में संगीत का उपयोग संतों के द्वारा भी होता रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की काव्यभाषा संगीत के नाद तत्व से परिपूर्ण है। काव्य भाषा में सौंदर्य की सृष्टि में लोकछंदों तथा संगीत तत्व का यह योग कबीर को अद्वितीयता प्रदान करता है।

6.4 कबीर के काव्य में भावसौंदर्य और कलात्मक सौष्ठव

कबीर को मध्ययुग के क्रांतिकारी समाजसुधारक के रूप में आसानी से स्वीकृति मिल जाती है, पर एक महत् कृतिकार अथवा एक श्रेष्ठ कवि के रूप में उनकी पहचान कायम करने में अनेक प्रकार की मुश्किलें रही हैं। साफ तौर पर दो टूक भाषा में तो किसी ने भी नहीं कहा कि कबीर कवि नहीं है, कि उनकी कविता बेकार है, कि उनकी बानियाँ कलाशून्य हैं। पर अगर-मगर, लेकिन-परन्तु लगाकर तुलसी, सूर और जायसी की तुलना में कबीर को समकक्षता का दर्जा देने से इन्कार किया जाता रहा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में ज्ञानाश्रयी शाखा की रचनाओं को साहित्य मानने से ही इन्कार कर दिया, यद्यपि कबीर को इसके अपवाद के रूप में उल्लिखित कर उनकी प्रतिभा का लोहा मान लिया :

"इस शाखा (ज्ञानाश्रयी) की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं – फुटकल दोहों या पदों के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटाँग है। कबीर आदि दो एक प्रतिभा संपन्न संतों को छोड़ औरों में ज्ञानमार्ग की सुनी-सुनाई बातों का पिष्ट-पेषण तथा हठयोग की बातों के कुछ रूपक भद्दी तुकबंदियों में हैं। भक्तिरस में मग्न करने वाली सरलता भी बहुत कम पायी जाती है। बात यह है कि इस पंथ का प्रभाव और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योंकि उसके लिए न तो इस पंथ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्नश्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडम्बरों का तिरस्कार करके, आत्म गौरव का भाव उत्पन्न करके, इन्होंने इसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयास किया। पाश्चात्यों ने इन्हें जो "धर्मसुधारक" की उपाधि दी है, वह इसी बात को ध्यान में रखकर।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 66)

आचार्य शुक्ल के मूल्यांकनों के चौखटे में दिखाया गया है कि कबीर साधुओं का सत्संग भी करते थे और जुलाहे का काम भी करते थे। कबीर ने मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया था। वे किसी को भी "ज्ञानी या बड़ा मानने के लिए तैयार नहीं थे।" कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर ईश्वर को उपासना ही नहीं प्रेम का भी विषय बनाया, और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार, आचार्य शुक्ल के अनुसार – **"उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अंहिसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव अवश्य स्पष्ट लक्षित होते हैं।" (वही, पृष्ठ 72)**

"यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं। उनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था।" (वही, पृष्ठ 73)

इससे स्पष्ट है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल कबीर की उलटबाँसियों के चमत्कार, गूढ़ ज्ञान तथा सूफियों जैसे ईश्वर प्रेम के कारण उनकी प्रतिभा का लोहा मानते थे वर्ना एक महत् कृतिकार के रूप में मान्यता देने के पक्ष वे नहीं थे। इसके पीछे जो तर्क है, उस पर विचार करना आवश्यक है। अरूप परम सत्ता से प्रेम को व्यक्त करने वाली बानियों में योगमार्ग या हठयोग की शब्दावली भरी है तथा सूफियों की भावसाधना से लिया गया रागात्मक तत्व छाया हुआ है। ये बानियां गूढ़ ज्ञान तथा वैचित्र्य बोध के चमत्कारों के कारण विस्मित-चकित अवश्य करती हैं;

काव्य की मार्मिक संवेदना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये रचनाएँ महत्वहीन हैं। अत: ऐसी रचनाओं में "संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का विकास'' न हो सका। ये रचनाएँ धर्मसुधार की दृष्टि से अपनी प्रचारात्मकता और तर्कवितर्क में महत्वपूर्ण हो सकती हैं, पर साहित्यिक सौष्ठव और सांस्कृतिक परंपरा के उन्नयन की दृष्टि से महत्व-शून्य है।

सांस्कृतिक परंपरा के निर्माण में ऊँची जातियों के कुलीनतावादी दृष्टिकोण अर्थात् वैदिक-पौराणिक संस्कृति के आग्रहों से कबीर तथा अन्य निरगुनिया संतों के काव्य के मर्म को समझा नहीं जा सकता। आप लोगों को इस बात की सूचना अवश्य होगी कि हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में प्रचलित कबीर-विरोधी दुराग्रहों पर लगातार चर्चा हुई है और उनके खंडन के क्रम में कबीर पर पुनर्विचार संभव हो सका है। इस सिलसिले में रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा किये गये कबीर-काव्य के अंग्रेज़ी भावानुवाद, क्षितिमोहन सेन की कबीर तथा संत साहित्य पर लिखी टिप्पणियों - यानी कुल मिलाकर बंगाल नवजागरण के प्रभाव से नई आलोचना - दृष्टि का विकास हुआ। इस आलोचना-दृष्टि को अत्यंत सक्षम ढंग से 'कबीर' नामक अपनी पुस्तक में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विस्तार से उजागर किया है।

'कबीर वाणी' नाम से संपादित एक नई पुस्तक में इधर अली सरदार जाफरी ने वही काम किया है जो एक जमाने में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था अर्थात् कबीर के काव्य के मर्म को भावानुवाद के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास। इन भावानुवादों के माध्यम से कबीर की बानियों के भावसौंदर्य और कलात्मक परिष्कार को नये सिरे से समझने में मदद मिलती है। अली सरदार जाफरी द्वारा लिखी गई भूमिका तथा उनके भावानुवादों से मध्ययुग के इस निरगुनिया संत की बानियों की समकालीन अर्थवत्ता अच्छी तरह उद्घाटित होती है। उस युग के संदर्भ में इन कविताओं का तात्कालिक रागबोध और सहज मानववाद भी अच्छी तरह व्यंजित होता है। सौभाग्य की बात है कि कबीर के संबंध में हिन्दी के नये आलोचकों और पाठकों का दृष्टिकोण बदला है। तभी भक्तिकाल के प्रारंभिक उत्थान की काव्यधारा के मूल में स्थित सिद्ध-नाथ परंपरा के साहित्य को भी समझने का प्रयास नये ढंग से हो रहा है, मराठी के ज्ञानेश्वर और नामदेव के साथ हिन्दी संतकवियों के संबंधों पर भी नया प्रकाश पड़ सका है और आख्यानधर्मी प्रबंधत्व से अलग हटकर मुक्तक परंपरा की विभिन्न धाराओं के दौरान हुई नई उद्भावनाओं की व्याख्या की चुनौती को भी गंभीरता से लिया जा रहा है।

कबीर की बानियां एक निश्चित श्रोतासमूह को संबोधित करने के उद्देश्य से रची गयी प्रतीत होती हैं। ये कविताएं पढ़ने के लिए नहीं बल्कि सुनने-सुनाने के लिए रची गयी थीं। अपने युग के अविवेक के विरुद्ध संघर्ष के औजार के रूप में ये बानियां गढ़ी गयी थीं। कहना चाहिए कि साझा लौकिक अनुभवों के मर्म से नयी विवेकशीलता के संचार का यह प्रयत्न उस युग के धार्मिक-सामाजिक विवाद, तर्कवितर्क और वैचारिक आदान-प्रदान का हिस्सा बन गया था। एक ओर शास्त्रीय ज्ञान था, दूसरी ओर अनुभव पर आश्रित यह नया विवेक - जिसे कबीर अपनी बानियों में बार-बार 'ज्ञान' की संज्ञा देते हैं। ज्ञान की इस आँधी के पक्ष में वे एक आंदोलन के प्रणेता हैं - एक ऐसे आंदोलन के सूत्रधार हैं जो हर प्रकार की रूढ़ि से टकरा रहा है, वर्णाश्रम व्यवस्था की जकड़बंदी से टकरा रहा है, वैदिक-पौराणिक संस्कृति की संस्थाओं से टकरा रहा है और साथ ही श्रमजीवी जोगियों और दलित जातियों के पेशेवर समूह के बीच प्रचलित नाथपंथ का संस्कार कर उसे ज्ञानाश्रयी संतकाव्य परम्परा का नया रूप देकर परिष्कृत कर रहा है। कबीर किसी भी सत्य को अपनी विवेक बुद्धि की कसौटी पर परखने के पक्ष में हैं - उनका ज्ञान, पारख ज्ञान है। वे किसी भी कथन को स्वत: प्रमाण नहीं मानते - वेद को भी नहीं, स्मृति को भी नहीं। वे यह नहीं मानते कि वेद ईश्वर रचित हैं बल्कि वे तर्क करते हैं कि ईश्वर स्वयं मनुष्य की कल्पना है, मनुष्य ने उसकी रचना की है। शास्त्रीय पुरोहितवाद से कबीर की यह सीधी टक्कर थी, आमने-सामने की मुठभेड़ जैसी। वे लोक में प्रचलित अंधविश्वासों को भी नहीं मानते थे - अत: बार-बार "लोक तथा वेद'' दोनों के विरोध का उल्लेख उनकी बानियों में मिलता है। असली कसौटी वे ज्ञान को बनाते हैं - "जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ग्यान।"

ऐसे सैकड़ों पद हैं जो किसी स्थापित मान्यता का खंडन करने के उद्देश्य से प्रश्न पूछने की शैली में रचे गये हैं। ये पद तेवर और मिजाज में अक्खड़पन का परिचय देते हैं। कहना न होगा कि इनमें एक संघर्षशील चिंतक की प्रखरता और व्यंग्यपूर्ण वक्रोक्ति की तल्खी का बड़ा विचित्र सम्मिश्रण है। ये पद कहीं पांड़े को संबोधित हैं, कहीं पंडित को, कहीं काजी को, कहीं मुल्ले को और कहीं हठयोगी अवधूत को। ऐसे ही एक पद को देखें -

पांडे बूझि पियहु तुम पानी।
जिहि मिटिया के घरमहँ बैठे, तामहँ सिस्ट समानी।
छप्पन कोटि जादव जहँ भींजे, मुनिजन सहस अठासी।।
पैग पैग पैगम्बर गाड़े, सो सब सरि भा माँटी।
तेहि मिटिया के भाँड़े पांड़े, बूझि पियहु तुम पानी।।
मच्छ-कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया।
नदिया नीर नरक बहि आवै, पसु-मानुस सब सरिया।।
हाड़ झरि झरि गूद गरि गरि, दूध कहाँ ते आया।
सो लै पाँड़े जेवन बैठे, मटियहिं छूति लगाया।।
बेद कितेब छाँड़ि देउ पांड़े, ई सब मन के भरमा।
कहहिं कबीर सुनहु हो पांड़े, ई तुम्हरे हैं करमा।।

पांड़े (कहीं पांड़े जी नहीं कहा जाता), यह तुम्हारी मूर्खता है कि तुम पहले जाति पूछते हो फिर उसके हाथ का पानी पीते हो। तुम जिस मिट्टी के घर में बैठे हो उसमें सारी सृष्टि समायी हुई है। छप्पन करोड़ यादव और अठासी हजार मुनि यहाँ डूब गये और कदम-कदम पर पैगम्बरों की लाशें सड़कर मिट्टी हो गई हैं। ओ पांड़े, ये बर्तन उसी मिट्टी के हैं और तुम जाति पूछकर पानी पीते हो। इस पानी में मगर, कछुए और घड़ियाल बच्चे जनते हैं और उनका रक्त पानी में मिल जाता है। इस नदी के पानी में सारा नरक बहकर आता है और जानवर-इन्सान सब इसमें सड़कर समा जाते हैं। जब हड्डी और गूदा गल जाता है तब दूध बनता है। इस दूध को लेकर पांड़े भोजन करने बैठते हैं लेकिन सारी छुआछूत मिट्टी में मानते हो। ओ पांड़े - वेद और कुरान सबको छोड़ो। ये सब दिल का धोखा हैं। सुनो पांड़े, कबीर कहते हैं कि ये तुम्हारे कर्म हैं जो तुम्हारे सामने आते हैं।

ऐसे पदों में लौकिक वास्तविकता के तर्कों से रूढ़िवादियों को निरुत्तर करने का प्रयत्न किया जाता था। "पांड़े न करसी बाद-बिबाद, या देही बिन सबद न स्वादं।" इस पद के अंत में कबीर अपने निष्कर्ष पर पहुँच कर कहते हैं - "कबीर ग्यान विचारा" अर्थात् यह शरीर मिट्टी का बना है, क्षण भंगुर है। ज्ञान के प्रकाश से इस संसार को देखो।

हठयोगियों अर्थात् नाथपंथी जोगियों के बाह्य आचार और कर्मकांड पर व्यंग्य करते हुए कबीर ने कितनी तल्खी से अपने एक गीत की रचना की थी - "मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा।"

मूर्तिपूजा, जातिप्रथा, धार्मिक भेदभाव, अंधविश्वास, कर्मकांड, बाह्याचार, तीर्थाटन आदि के खंडन में कबीर की बानियों की तार्किक प्रखरता कविता को भी जीवंत बनाती है। बोधगम्य और लोकग्राह्य सादृश्य-विधान से भरीपूरी सहज-सरल अभिव्यक्ति इन बानियों की खास विशेषता है।

मोको कहाँ ढूंढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।
ना तो कौने क्रियाकर्म में, नहीं योग बैराग में,
खोजी होय तो तुरते मिलिहौं, पल भर की तालास में।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँसं में।

परम तत्व किसी मंदिर में नहीं, किसी मस्जिद में नहीं, किसी तीर्थ में नहीं बल्कि हमारे इसी घट के अंदर है; इसी पिंड में ब्रह्माण्ड है - इस तात्विक कथन की अभिव्यक्ति के क्रम में प्रगाढ़ मानवीय लौकिक भावना और सहज संवेदना दिखायी देती है। घर-घर दीप जल रहा है - हर व्यक्ति के अंदर भगवान की ज्योति जल रही है - लेकिन अंधी आंखों को दिखाई नहीं देती - 'घर-घर दीपक बरै, लखै नहिं अंध है।' 'रमैनी' के पहले पद में ही 'जीव रूप यक अन्तरवासा, अन्तर ज्योति कीन्ह परगासा।' बताकर कबीर यह कहना चाहते है कि एक अखंड परम ज्योति जीव के भीतर वास करती है - सबके भीतर वही ज्योति प्रकाशमान है। फिर भी वे आत्म तत्व को छोड़कर पाषाण की पूजा करते हैं। "साधो देखो जग बौराना" में इस "अंतिम खबर" के ज्ञान को ही विवेक बताया गया है। प्रतीक, बिम्ब, अलंकार, धर्मसाधनाओं के पारिभाषिक पदों तथा श्रमशील देहाती आबादी के विभिन्न पेशों से संबंधित शब्दावली के उपयोग द्वारा कबीर ने अपने काव्य में अनुभव तथा विवेक पर आधारित विचारतत्व को भी भाव-संवेदना का विषय बनाया है। मध्यकालीन संतकाव्य के अंदर यह मानववादी विचारधारा एक ओर यदि अनुभवाश्रित विवेक पर निर्भर है, तो दूसरी ओर समानता पर आधारित समाज-व्यवस्था की प्रारंभिक कल्पनाओं के बीज भी अपने अंदर समेटे है, तीसरी ओर सामाजिक और वैचारिक रूढ़िवाद के खंडन के

लिए धारदार व्यंजना की शक्ति भी रखती है और चौथी बात यह कि रसपूर्ण प्रेमव्यंजना द्वारा परमतत्व के साक्षात्कार की ज्ञानगंभीर भावसाधना की सामर्थ्य से भी संपन्न है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा अनेक परवर्ती आलोचकों ने यह शंका व्यक्त की थी कि परम तत्व से अथवा उपास्य से अपरिचय के कारण प्रेम कैसे हो सकता है? कबीर ने 'परचा को अंग' के अनेक पदों में मानो इसी आशंका का खंडन किया है। वे कहते हैं :

पिंजर प्रेम प्रकासिया जाग्या जोग अनंत।
संसा छूटा सुख भया मिल्या पियारा कंत।।

कबीर की बानियों में भक्ति को रतिभाव के अंतर्गत ही स्थान मिला है। यह रतिभाव कहीं सखा भाव से है, कहीं प्रियाभाव से, कहीं वत्सलभाव से और कहीं दास्य भाव से है।

'रस गगन गुफा में अजर झरै', 'संतो सहज समाधि भली', 'गगन घटा घटरानी साधो', 'अवधू बेगम देस हमारा', 'कोई प्रेम की पेंग झुलावै', जैसे सैकड़ों पद हैं जिनमें उत्कृष्ट कोटि की काव्य-संवेदना और प्रतीकात्मक व्यंजना का सौंदर्य उपलब्ध है।

यदि वैचारिक तर्क-वितर्क वाले पदों को देखें, मसलन जातपाँत, छुआछूत, धार्मिक मतभेद, मूर्तिपूजा, कर्मकांड आदि से संबंधित कबीर की बानियों के काव्यपक्ष पर विचार करें तो पता चलेगा कि ये सारी कविताएं उस युग के यथार्थ के द्वन्द्व को सारभूत ढंग से उपस्थित करती हैं, अपनी सपाट-बयानी के बावजूद व्यंग्योक्तियों की प्रखरता के कारण लोकचेतना को आंदोलित करने में सकारात्मक भूमिका निभाती रही हैं।

कबीर के एक पद 'अब न बसूँ इहि गाउँ गुसाईं' को उस युग की समाज-व्यवस्था के मूलभूत अंतर्विरोध के संदर्भ में नये सिरे से पढ़ना चाहिए। उस जमाने में अकाल, बाढ़, अनावृष्टि, सूखा आदि के कारण जब गाँव के किसान लगान न चुका पाते थे तो दंड और यातना के डर से हजारों हजार की तादाद में गाँव खाली कर भाग जाते थे। ऐसे किसानों की बेरोजगार फौज कस्बों के दस्तकारों और बुनकरों की जमात में शामिल हो जाती थी। बादशाह और जमींदार इन किसानों के पकड़े जाने पर उन्हें भयंकर से भयंकर सज़ा देते थे और उन्हें जमीन जोतने के लिए फिर उसी गांव में जबर्दस्ती लौटा लाया जाता था। किसानों की इस दर्दनाक हालत के तत्कालीन सामाजिक संदर्भों को अन्योक्ति शैली में, सादृश्य बतलाते हुए निम्नलिखित पद में अंकित किया गया है –

अब न बसूँ इहि गाउँ गुसाईं।
तेरे नेवगी खरे सयांने हो राम।।
नगर एक तहँ जीव धरम हत, बसै जु पंच किसानां।
नैनूं नकटूँ श्रवनूं, रसनूं, इन्द्री कहा न मानैं हो राम।।
गाउँ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।
जोरि जेवरी खेत पसारै, सब मिलि मोकौं मारै हो राम।।
खोटौ महतौ विकट बलाही, सिर कसदम का पारै।
बुरौ दिवांन दादि नहिं लागै, इक बांधै इक मारै हो राम।।
धरम राइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी।
पांच किसाना भाजि गये हैं, जीव धेर बांध्यौ पारी हो राम।।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बांधौ भेरा।
अबकी बेर बकसि बंदे कौं, बहुरि न भौजलि फेरा।।

हे गोस्वामी, हे मालिक अब मैं इस शरीर रूपी गांव में नहीं रहना चाहता। आपके कारिन्दे अत्यंत सयाने और कठोर हैं। यह शरीर रूपी नगर ऐसा है जिसमें बसने वाला जीव अपने वास्तविक कर्म से - अपने वास्तविक जीवनधर्म से च्युत हो जाता है और उसके अधीनस्थ पांचो किसान (इन्द्रियाँ) उसके अनुशासन को तोड़ डालते हैं। वे मनमानी करने लगते हैं।

इस शरीर रूपी गांव का स्वामी तो मन है। कर्म रूपी पटवारी के भोगविलास में व्यय का कोई अंत नहीं होता। जिस तरह अमीन गांव के खेत को जंजीर से नापता है, उसी तरह तृष्णा और वासना की जेवड़ी सारे शरीर को नाप लेती है, बांध देती है। इस तरह सब ने जीव को जकड़ रखा है।

हे धर्मराज - हे भूस्वामी! इस गांव में आपके द्वारा नियुक्त कारिन्दा बड़ा कठोर है। गांव का मुखिया खोटा है, लगान वसूलने वाला (बलाही) बहुत ही विकट और निर्दय है। वह बड़े-बड़े ताकतवर लोगों के बाल उखाड़ डालता है। ऐसी हालत में मेरे जैसे आदमी की तो गिनती ही नहीं है। इस निर्दय बलाही को मुझसे कोई हमदर्दी नहीं; आपके दीवान से अपील करने पर भी कोई न्याय नहीं मिलता। आपके कर्मचारियों में कोई तो मुझे (जीव को) बांधता है, कोई मारता है और सभी मुझे नाना प्रकार की यातनाएँ देते हैं। मरने के वक्त जब धर्मराज ने मेरे कर्मों का हिसाब माँगा तो मेरे ऊपर बहुत बड़ा हिसाब निकला। अंजाम यह कि पांचों इन्द्रियों के समान सारे किसान भाग खड़े हुए और मुझ एकाकी जीव को पकड़ कर हाथी का पैर बांधने वाले रस्से से जकड़कर बांध दिया गया। भूस्वामी ने मुझे कितनी बड़ी यातना दे दी है।

कबीर कहते हैं कि हे संतो। सुनो, भगवान के भजन रूपी बेड़े को तैयार करो जिससे यह जीव भवसागर से पार हो जाए (मैदानी इलाकों में किसानों को पकड़ कर लौटा लाया जाता था, अतः नदियों के रास्ते भागने की कोशिश होने लगी)।

आलंकारिक दृष्टि से इस पद में सांग रूपक और यमक की छटा देखी जा सकती है। पर इस पद का काव्य सौंदर्य किसान-उत्पीड़न के सामाजिक संदर्भ की व्यंजना में निहित है।

आत्मा-परमात्मा के मिलन की अभिलाषा से संबंधित पद हों या वियोगिनी की पीड़ा से संबंधित रतिशृंगार के पद हों - कबीर को अद्वैतवादी और वेदांती सिद्ध करने के क्रम में ये बानियां अक्सर ही उद्धृत की जाती हैं और इन पदों के काव्यसौंदर्य पर आलोचक की मुहर भी लग जाती हैं। दूसरी तरफ जातिप्रथा, मूर्तिपूजा, धार्मिक कर्मकांड, हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव आदि से संबंधित तर्कवितर्क वाले पदों को उद्धृत कर कबीर के क्रांतिकारी समाजदर्शन की प्रशंसा की जाती है। कबीर के मायावाद और स्त्री-संबंधी उनके दृष्टिकोण की असंगतियों की चर्चा प्रायः नहीं की जाती - यद्यपि कबीर के विचार-दर्शन का यह ऐसा पहलू है जो उनकी ऐतिहासिक भूमिका की सीमा भी स्पष्ट कर देता है। स्त्री-संबंधी दृष्टिकोण की पड़ताल करने पर पता चलता है कि नानक को छोड़कर भक्तिकाल के प्रायः सभी रचनाकार स्त्रियों को माया का प्रतीक और सभी सांसारिक बुराइयों की जड़ बतलाने में आगे बढ़-बढ़कर होड़ा होड़ी कर रहे हैं। सिर्फ गुरु नानक ऐसे संत और समाज सुधारक हैं जो स्त्री को समाज में समुचित स्थान दिलाने के लिए अपने दृढ़ वैचारिक रुख का परिचय देते हैं। सूतक से जुड़े अंधविश्वास का खंडन करते हुए गुरु नानक ने स्त्री की अपवित्रता की धारणाओं को निर्मूल करने का प्रयत्न किया था। संत काव्य परंपरा में कबीर के विचारधारात्मक संघर्ष की अगली कड़ी के रूप में गुरु नानक (1469-1539) को देखने से ही भक्ति आंदोलन के विकास की सकारात्मक दिशा का संकेत मिलता है।

तुलसी तक आते-आते भक्ति आंदोलन की अनेक सकारात्मक प्रवृत्तियाँ उतार पर दिखायी देने लगती हैं। अतः कबीर के मूल्यांकन के संदर्भ में भक्ति आंदोलन के प्रारंभिक उत्थान के साहित्य और भक्ति आंदोलन की उत्तरवर्ती प्रवृत्तियों के साहित्य के अंतर को पूरी निर्ममता से अलगाकर देखना चाहिए। इसके साथ-साथ भक्ति आंदोलन के उत्कर्ष काल से लेकर उसके अपकर्ष काल तक उसके अंदर टकराती हुई विभिन्न प्रवृत्तियों के अंतर्विरोध को तत्कालीन सामाजिक द्वन्द्वों की पृष्ठभूमि में पढ़ा जाना चाहिए। भक्ति साहित्य लगभग 200 वर्षों तक लिखा जाता रहा। उस व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन को निर्द्वन्द्व इकहरी प्रवृत्ति के जड़ पुंज के रूप में देखने से ही तमाम तरह की कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं। पर भक्ति साहित्य के कुछ आधारभूत समान तत्व भी हैं जो कबीर से तुलसी तक अनिवार्यतः एक वैचारिक अन्विति की सृष्टि करते हैं। इन समान तत्वों में पहली बात यह है कि ईश्वर के दरबार में सभी जातियों और धर्मों के लोग बराबर हैं। दूसरी बात यह कि सुख-संपदा, भौतिक वैभव-विलास, संपत्ति और पद के लिए लूट मार, अंधी स्वार्थपरता, लोभ, झूठे दिखावे और अंहकार - इन सारी प्रवृत्तियों के नागफाँस से बचने का संदेश भक्तिकाव्य की नैतिक अंतर्धारा के रूप में कबीर से तुलसी तक समान रूप से मिलता है। कबीर की बानियों में यह नैतिक संदेश उनके 'ज्ञान' और मानवीय विवेक का आवश्यक तत्व है। अक्सर भ्रांतिवश ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के 'ज्ञान' को ईश्वर के निर्गुण रूप तक सीमित कर दिया जाता है। कबीर की बानियों में यह ज्ञान आत्मचेतना, मानवप्रेम और आचरण की सादगी का पर्याय है। परोपकार, दूसरों की पीड़ा को समझना, संतोष में ही आनन्द का अनुभव करना, आदि से संबंधित कबीर के पदों की तत्कालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में विवेचना नहीं की जाती। सदियों से दबे और कुचले हुए लोगों के प्रति ममता से परिपूर्ण कबीर की बानियों की भी अलग से व्याख्या, चर्चा और समीक्षा बहुत कम की जाती है। दरअसल पन्द्रहवीं-सदी के उत्तरी भारत में कबीर की ज्ञानधारा उस युग की सामाजिक आवश्यकताओं की ही अभिव्यक्ति है। यह ऐसी ज्ञानधारा है जो मानवीय सौहार्द्र, सद्भावना, सामाजिक बराबरी और प्रेम को भी उतना ही महत्व देती है, जितना निर्गुण-निराकार की भक्ति को महत्व देती है। कबीर शुष्क ज्ञानचर्चा नहीं कर रहे थे - शूद्र और दलित जातियों की पीड़ित आबादी के बीच आत्मसम्मान की भावना भी जगा रहे थे; अपने वैभव एवं ऐश्वर्य की मदांधता में डूबे

NMDC-064

लोगों की तीखी आलोचना भी कर रहे थे; पंडितों, मुल्लों, काजियों, अवधूतों को तर्क की भूमि पर अज्ञानी और मूर्ख भी साबित कर रहे थे; वेद एवं स्मृति ग्रंथों की ज्ञानगठरी का मज़ाक उड़ाकर प्रेम को नये मानवविवेक के रूप में पूरी दृढ़ता से प्रतिष्ठित करने के लिए विराट आह्वान भी कर रहे थे।

आये हैं सो जायेंगे, राजा, रंक, फकीर, जैसी उक्तियाँ शाश्वत सत्यकथन के आवरण में सत्ताधारियों को चुनौती देती हैं और चेतावनी भी। क्या फर्क पड़ता है - एक सिंहासन पर बैठा-बैठा मर जाता है, और दूसरा जंजीर में बँधा-बँधा मर जाता है। फिर सत्ता पक्ष के लोग दंभ किस बात का करते हैं? उन्हें मालूम होना चाहिए कि मरी हुई खाल की साँस से लोहा भी भस्म हो जाता है (मुई खाल की साँस सों, लोह भसम होइ जाई)। अपने इस 'ज्ञान' को लेकर कबीर ब्राह्मण से कहते हैं कि तुमने मेरे ज्ञान को पहचाना ही नहीं, चीन्हा ही नहीं - तुम शास्त्र-पुराण का बहुत ज्ञान रखते हो, फिर भी भूपति से भीख मांगते हो। मैं तो किसी से कुछ मांगता ही नहीं -

तू ब्राहमण मैं कासी का जोलहा चीन्हि न मोर गियाना।

कबीर का यह ज्ञानमार्ग नई विवेकचेतना की मांग करता है। हर आदमी के मन में आत्मसंग्राम के बीज बोता है

जा घट जान विजान है, तिहि घटि आवटनां घनां।
बिन खांडे संग्राम है, नित उठि मन सौं जूझनां।।

कबीर कहते हैं जिसके मन में (घट में) ज्ञान विज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उसे चैन कहाँ? उस आदमी के घट में गंभीर उथलपुथल, ऊहापोह शुरू हो जाती है। खांड़ के बिना ही (तलवार हाथ में नहीं है, फिर भी) संग्राम होने लगता है - ऐसा संग्राम जिसमें अपने मन से ही उठ-उठ कर जूझना पड़ता है। मानववादी आत्मबिबेक की जागृति के परिप्रेक्ष्य में कबीर के ज्ञानमार्ग को समझने से उनके पदों के काव्यसौंदर्य को समझा जा सकता है; सिर्फ अध्यात्मवादी चौखटे में इस ज्ञानोन्मेष को बांध देने से काव्यसंवेदना का आस्वाद लेना मुश्किल होता जाता है।

6.5 सारांश

भक्तिकाल के प्रारंभिक उत्थान के रचनाकारों में कबीर सर्वाधिक महत्वपूर्ण माने गये हैं। उनकी बानियों में यद्यपि भाषिक दृष्टि से विविधता उपलब्ध होती है, पर यह विविधता उनके काव्य को और भी सजीव बना देती है। भावसौंदर्य और कलात्मकता की दृष्टि से भी कबीर अपने युग के अग्रणी रचनाकार थे।

कबीर की काव्य-भाषा में मध्यकालीन धर्मसाधनाओं, भारतीय दर्शन, इस्लाम तथा सूफीमत के पारिभाषिक शब्दों की भरमार है। कबीर ने इनका उपयोग प्रायः उन्हीं अर्थों में किया है लेकिन उलटबाँसियों, रूपकों, अन्योक्तियों आदि में इन पारिभाषिक शब्दों का तात्विक अभिप्राय नई अर्थभंगिमा ग्रहण कर लेती है। कबीर की भाषा में ताजगी, सादगी, जिंदादिली और सजीव व्यंजकता है। उन्होंने अपने युग की जीती-जागती रोज़मर्रा की भाषा में बानियों की रचना की है। उनकी भाषा सत्य की आँच में तपी और ढली है। उसमें एक ओर दो टूक खरापन है तो दूसरी ओर उसमें पीड़ित मानवता के लिए गहरी आत्मीयता भी है। परंतु कबीर की कविता में शुष्क ज्ञान की ही चर्चा नहीं है अपितु उसमें एक काव्य-सौंदर्य भी है। उनकी भाषा संगीत के नाद तत्व से परिपूर्ण है।

6.6 अभ्यास/प्रश्न

1. कबीर की बानियों की भाषा के संबंध में प्रचलित विवादों की समीक्षा करें।
2. "कबीर के काव्य में व्यंग्य की अपूर्व सामर्थ्य है।" इस कथन के आलोक में कबीर की समाजचेतना और व्यंग्य-दृष्टि का मूल्यांकन करें।
3. कबीर के काव्य शिल्प पर विचार करते हुए उनकी उलटबाँसियों पर सिद्धों और नाथों के प्रभाव की विवेचना करें।
4. कबीर काव्य की कलात्मकता पर एक स्वतंत्र टिप्पणी लिखें।
5. कबीर काव्य की यथार्थदृष्टि तथा उसके शिल्प पर उदाहरण सहित विवेचनात्मक निबंध लिखें।

NMDC-064

इकाई 7 सूफी मत और जायसी का पदमावत

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 सूफीमत
7.3 जायसी और सूफीमत
7.4 कवि जायसी और उनका पदमावत
7.5 सारांश
7.6 शब्दावली
7.7 अभ्यास/प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस खंड की इकाई 5 और 6 में आपने कबीर के साहित्य के विविध पक्षों की जानकारी प्राप्त की। यह इकाई जायसी पर केन्द्रित है। इसे पढ़कर आप :

- सूफीमत से परिचित हो सकेंगे,
- सूफीमत और मलिक मुहम्मद जायसी का क्या संबंध है, इसकी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- सूफीमत में प्रेम के स्वरूप और प्रेम-संबंधी जायसी की अवधारणा को रेखांकित कर सकेंगे, और
- जायसी-कृत **पदमावत** में अभिव्यंजित प्रेम का अध्ययन कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

मलिक मुहम्मद जायसी को हिन्दी का सूफी कवि माना जाता है। इसलिए जायसी के कवि-रूप का अध्ययन करने से पूर्व आपके लिए यह जान लेना आवश्यक होगा कि ''सूफी'' किसे कहते हैं? हिन्दी में ''सूफीमत'' नाम से प्रचलित अवधारणा के लिए अंग्रेजी में सूफिज्म और उर्दू में तसव्वुफ (मूलत: अरबी शब्द) का व्यवहार होता है। यह एक दार्शनिक अवधारणा है, जो फारसी काव्य से चलकर हिन्दी काव्य तक आयी। हिन्दी के जिन कवियों में इस अवधारणा के दर्शन होते हैं, वे सूफी कवि कहलाए। जैसे : मुल्ला दाऊद, मलिक मुहम्मद जायसी, कुतुबन, मंझन, कासिमशाह, नूर मुहम्मद आदि। जायसी का नाम उनमें अग्रगण्य है।

मलिक मुहम्मद जायसी को केवल कवि कहा जाय, या सूफी कवि - इसको लेकर पर्याप्त विचार-विमर्श हो चुका है। यहाँ हम उन्हीं तमाम विचारों के प्रकाश में जायसी की कविता का मूल्यांकन प्रस्तुत करेंगे।

इश्क अर्थात् प्रेम - सूफीमत का एक प्रमुख अंग है और जायसी मूलत: प्रेमाख्यान के कवि हैं, अत: सूफीमत और जायसी दोनों की प्रेमसंबंधी परिकल्पनाओं का भी अध्ययन करना समीचीन प्रतीत होता है।

चूँकि **पदमावत** जायसी की अमर रचना है, इसलिए उक्त ग्रंथ में प्रतिपादित प्रेम के स्वरूप का सम्यक् विवेचन इस इकाई का मूल अभीष्ट है।

7.2 सूफीमत

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मलिक मुहम्मद जायसी को सूफी कवि कहा जाता है, इसलिए ''सूफी'' अथवा ''सूफीमत'' का अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है।

''सूफी'' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में अनेक तरह के विचार व्यक्त किये गये हैं। सुफ्फा, सफ, सोफिया, सूफ आदि शब्दों को इसका मूल माना जाता रहा है। अंततः "सूफ'' शब्द पर बहुमत हुआ, जिसका अर्थ है ''ऊन''। अर्थात् ''सूफी'' वह है, जो ऊनी वस्त्र धारण करता हो। लेकिन शाब्दिक अर्थ जान लेने मात्र से सूफीमत का पूर्ण बोध नहीं हो जाता।

सूफीमत अथवा तसव्वुफ इस्लाम का एक अंग है, किन्तु फकीह अथवा धर्मशास्त्री इसे इस्लाम से अलग मानते रहे, क्योंकि प्रारंभिक सूफियों ने इस्लाम की प्रवृत्तिमूलक भावना के विपरीत उसमें भक्ति का समावेश किया और आत्मा के शुद्धिकरण पर जोर दिया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रारंभ के सूफीमत में दर्शन का अभाव था; अलहसन, इब्राहीम बिन अधम और अयाज के विचारों से सूफीमत अपना आधार ग्रहण करने लगा और उसका प्रारंभिक स्वरूप राबिया के विचारों में दिखायी दिया। सर्वप्रथम राबिया बसरी में प्रेम का उदात्त रूप दिखायी पड़ा फिर भी वह तवक्कुल (आत्मसमर्पण) के भाव को बनाये रखना अपना कर्तव्य समझती थी। वह खुदा के प्रेम में इस तरह तदाकार हो गई थी कि शेष सृष्टि के प्रति न तो उसे प्रेम रहा और न घृणा।

इस तरह आपने देखा कि प्रारंभिक सूफियों ने इस्लाम की शरीयत के विपरीत इस्लाम में भक्ति और माधुर्य का समावेश कर एक नये दर्शन की आधारशिला रखी। धीरे-धीरे सूफीमत पर ईसाईयत, नवअफलातूनी मत, भारतीय वेदान्त और बौद्धदर्शन का प्रभाव पड़ने लगा। लेकिन इस सूफीमत में एक नया मोड़ उस समय आया जब जुनद शिबली और मंसूर हल्लाज ने गैर इस्लामी विचारों को व्यक्त करना शुरु किया। मंसूर हल्लाज ने ''अनलहक'' (अन-अल्-हक़ = मैं ही सत्य हूँ) कहकर इस्लाम के धर्मशास्त्रियों को क्रुद्ध कर दिया। चूँकि इस्लाम में यह मान्यता है कि अल्लाह एक है और उससे न कोई पैदा हुआ और न वह किसी से पैदा हुआ तथा उसकी समता का भी कोई नहीं है, इसलिए मंसूर हल्लाज को अपने को सत्य कहना उलेमाओं को अच्छा नहीं लगा। इसीलिए मंसूर का कत्ल कर दिया गया। दरअसल मंसूर का यह कथन वेदान्त का अहं ब्रह्मास्मि ही है जिससे यह सिद्ध होता है कि मंसूर के समय तक सूफी मत पर अनेक दर्शनों का प्रभाव पड़ने लगा था।

मंसूर के कत्ल के बाद सूफीमत को जबर्दस्त आघात लगा और सूफियों को एक सुसम्बद्ध दर्शन की आवश्यकता महसूस हुई। अतः सूफीमत ने इस्लाम से समझौता भी शुरु कर दिया। अल ग़ज़ाली ऐसे ही समन्वयवादी सूफी दार्शनिक थे। अल ग़ज़ाली, जिस पर यूनानी दार्शनिकों के साथ-साथ क़ुरान और हसनअलबसरी, राबिया और जुनैद के मतों का प्रभाव था, उनके समन्वयवादी विचारों से इस्लाम और सूफीमत का विरोध समाप्त हो गया। इस प्रकार सूफी दर्शन दो धाराओं में बँट गया। पहली धारा मंसूर हल्लाज के अनुयायियों की है और दूसरी समझौतावादी दार्शनिकों की। पहली धारा के दार्शनिकों की दृष्टि उदार है और दूसरी धारा के दार्शनिकों की कुरानसम्मत, जो कुरान के प्रतिकूल नहीं जाते।

अभी तक आपने देखा कि सूफीमत ने किन परिस्थितियों में अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए एक पुष्ट दर्शन का विकास किया और वह दो धाराओं में बँट गया। इस समय तक सूफीमत पर वेदांत का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगा था। साक्ष्य के लिए इब्नुल अरबी के विचारों को भी देखा जा सकता है जो एकेश्वरवादी दृष्टिकोण कि ''ईश्वर केवल एक है'' की जगह कहता है कि "केवल ईश्वर है और कुछ नहीं''। इब्नुल अरबी का यह दृष्टिकोण वेदान्त के '' सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' के समीप है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि इब्नुल अरबी के ये विचार भारत में काफी लोकप्रिय हुए। हिन्दी के सूफी कवि मंझन ने उन्हीं विचारों को ध्यान में रखकर **मधुमालती** की रचना की।

अब आपको सूफीमत की साधना-पद्धतियों को जान लेना ज़रूरी है क्योंकि समूचा सूफी दर्शन इन्हीं साधना-पद्धतियों पर निर्भर है। जिस तरह योग के आठ अंग होते हैं और योगी उनका क्रमशः आचरण करते हुए समाधि की दशा में पहुँचता है उसी प्रकार सूफी परमात्मा के प्रेम में डूबकर उसमें लीन हो जाता है। इस अवस्था में वह ईश्वर से तदाकार हो जाता है। सूफी दर्शन की भाषा में इसे बक़ा कहा जाता है।

सूफीमत में साधना के चार सोपान माने गये हैं - शरीअत, तरीकत, मारिफत और हक़ीकत। दूसरे शब्दों में इन्हें नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत भी कहा जाता है। कुछ लोगों ने एक और सोपान हाहूत की भी कल्पना की जिसे सत्यलोक भी कहा जा सकता है। हर सूफी तौबा, जहद, सब्र, शुक्र, रिज़ाअ, ख़ौफ़, तवक्कुल, रज़ा, फ़िक्र और मोहब्बत को आचरण में लाते हुए अपने माशूक अर्थात् ब्रह्म में लीन

NMDC-064

हो जाता है। साधना के इन सोपानों से गुज़रते हुए वह काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि चित्तवृत्तियों और मनोविकारों से मुक्त हो जाता है। यह फना की अवस्था होती है। प्रियतम के सिवाय उसे कुछ भी नज़र नहीं आता। वस्ल यानी मिलन के बाद आशिक और माशूक अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा में कोई फर्क नहीं रहता। वह ब्रह्ममय हो जाता है। इसे ही बक़ा कहा जाता है।

सूफीमत में अद्वैत दर्शन की शुरुआत बायज़ीद ने की। बायज़ीद जीवात्मा और परमात्मा में कोई फर्क नहीं मानते थे। करखी और बायज़ीद के बाद ही सूफियों में "प्रेमपियाला" का प्रचलन हुआ।

सूफी मत की दार्शनिक पृष्ठभूमि से परिचित होने के बाद उसके विभिन्न सम्प्रदायों की जानकारी अति आवश्यक है, क्योंकि सूफी कवियों का संबंध किसी एक सम्प्रदाय से न होकर विभिन्न सम्प्रदायों से रहा है।

विभिन्न सम्प्रदाय

सूफी सिद्धान्तों की रूपरेखा हुज्वेरी ने प्रस्तुत की। वे एक सूफी साधक और विचारक थे। अपनी किताब "कश्फुल-महजूब" में उन्होंने उस समय तक प्रचलित 12 सम्प्रदायों की जानकारी दी। दरअसल भारत में सूफीमत हुज्वेरी के साथ आया, लेकिन यहाँ पर सूफी मत का क्रमबद्ध इतिहास ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती के आने के बाद शुरू हुआ। उन्होंने चिश्तिया सम्प्रदाय की स्थापना की। ख्वाजा बख्तियार काकी इसी सम्प्रदाय के मशहूर सूफी सन्त थे। बाबा फरीद उन्हीं के शिष्य थे। बाबा फरीद के अनेक शिष्यों में ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया भी थे।

भारत में सूफी मत के अनेक सम्प्रदाय बने जिनमें चिश्तिया सम्प्रदाय, सुहरवर्दिया, कादिरिया, नक्शबंदिया और मेहदवी सम्प्रदाय प्रमुख हैं।

चिश्तिया सम्प्रदाय की दो शाखाएँ हुईं। पहली, निजामुद्दीन औलिया की औलिया सम्प्रदाय और दूसरी साबिरी सम्प्रदाय। साबिरी सम्प्रदाय नामक नयी शाखा शेख अलाउल अली अहमद साबिर ने स्थापित की। अमीर खुसरो औलिया शाखा के थे और वे निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे। सुहरवर्दिया सम्प्रदाय भी ख्याति प्राप्त था। यह सम्प्रदाय मशहूर संत शेख शहाबुद्दीन सुहरवर्दी के नाम पर कायम हुआ। इस सम्प्रदाय के दो विख्यात संत शेख हमीदुद्दीन नागौरी और शेख वहाउद्दीन जकारिया सुहरवर्दी के शिष्य थे जिन्हें उन्होंने भारत भेजा था। बाद में इस सम्प्रदाय की दो तीन शाखाएँ और बनीं। हिंदी के सूफी कवि कुतुबन सुहरवर्दिया सम्प्रदाय के थे।

कादिरिया और नक्शबंदिया सम्प्रदाय बहुत बाद के हैं। हिंदी के सूफी कवियों का संबंध इन सम्प्रदायों से नहीं है। मेहदवी सम्प्रदाय के संस्थापक मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी थे। उन्होंने स्वयं को मेहदी घोषित किया। शेख बुरहान इन्हीं परम्परा में थे। हिंदी के प्रमुख सूफी कवि मलिक मोहम्मद जायसी का संबंध इसी मेहदवी सम्प्रदाय से था और वे शेख बुरहान के शिष्य थे।

7.3 जायसी और सूफीमत

अभी तक आपने सूफी मत के विभिन्न सम्प्रदायों की जानकारी प्राप्त की। अब जायसी और सूफी मत के संबंधों के बारे में जान लेना आवश्यक है, क्योंकि जायसी और सूफीमत को समझे बिना उनकी कविता को समझना आसान नहीं है।

ऊपर कहा जा चुका है कि जायसी मेहदवी संप्रदाय के कवि थे और उनके गुरु शेख बुरहान थे। यही नहीं, जायसी का संबंध चिश्तिया संप्रदाय से भी जोड़ा गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और परशुराम चतुर्वेदी ने जायसी को चिश्तिया सम्प्रदाय का माना है। प्रो0 रामपूजन तिवारी, डॉ0 रामखेलावन पांडेय आदि ने उन्हें मेहदवी संप्रदाय का बताया है। जायसी के अनेक विशेषज्ञों की धारणा इसी प्रकार की है और इसी आधार पर **पदमावत** की व्याख्या की जाती रही है। विद्वानों की इन धारणाओं का आधार भी है। जायसी ने स्वयं **पदमावत** के एक कड़वक में शेख बुरहान समेत अनेक गुरुओं की सूची दी है जिससे यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि उनके अनेक गुरु थे जिनसे उन्होंने दीक्षा ली या जिनके संपर्क में वे आये।

सबसे पहले सर जार्ज ग्रियर्सन ने जायसी को मुस्लिम संन्यासी घोषित करते हुए उन्हें सूफ़ीमत से जोड़ा। बाद में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ग्रियर्सन के विचारों को सही पाया और उसका समर्थन किया। हालांकि शुक्ल जी ने जायसी को सूफ़ी कवि माना है, किन्तु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जायसी के काव्य में सूफ़ी तत्व कम हैं, भारतीय अद्वैत दर्शन, वेदान्त एवं हठयोग के तत्व ही अधिक हैं। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जायसी सूफ़ियों के अद्वैतवाद तक ही सीमित नहीं रहे हैं, वेदान्त के अद्वैतवाद तक भी पहुँचे हैं। इसी प्रकार प्रो0 परशुराम चतुर्वेदी, डॉ0 रामखेलावन पांडेय, प्रो0 रामपूजन तिवारी, डॉ. श्रीनिवास बत्रा और प्रो.हसन अस्करी ने भी जायसी को सूफ़ी मत से जोड़ते हुए **पदमावत** की व्याख्या की है, हालाँकि उन्हें **पदमावत** में सूफ़ी दर्शन के कम ही दर्शन हुए हैं।

इन विद्वानों के विचारों से सहमत होकर जायसी को सूफ़ी कवि मान लेना पर्याप्त नहीं है। जायसी अगर हिन्दी के सूफ़ी कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं और **पदमावत** सूफ़ीमत को प्रतिपादित करने वाला श्रेष्ठ ग्रंथ है तो उसमें रूपक का भी सफल निर्वाह हुआ होगा। यह कैसे हो सकता है कि एक श्रेष्ठ सूफ़ी कवि अपने काव्य में सूफ़ीमत का ठीक से निर्वाह न कर सके। मगर हुआ ऐसा ही है। **पदमावत** के आधार पर जायसी को न तो सूफ़ी कवि कहा जा सकता है और न ही **पदमावत** को सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य।

जायसी सूफ़ी थे, सूफ़ी कवि थे या सिर्फ़ कवि थे - इस पर विचार कर लेना आवश्यक है। जायसी और **पदमावत** को समझने के लिए यह ज़रूरी है। जायसी को सूफ़ी कवि मानने वाले विद्वानों के लिए पदमावत का एक कड़वक काफी रहा है। जायसी को सूफ़ी कवि मानने की यह धारणा अब तक जारी है। जायसी केवल कवि थे और उनकी रचना **पदमावत** में सूफ़ी दर्शन अनायास ही आ गये हैं, इस बात को बहुत कम आलोचक मानते हैं।

जायसी कवि थे। उनका किसी सूफ़ी संप्रदाय से कोई संबंध था अथवा नहीं, नहीं कहा जा सकता, तथापि वे सूफ़ीमत से भलीभाँति परिचित थे। प्रो0 विजयदेवनारायण साही के अनुसार, **''जायसी में अपने स्वाधीन चिंतन और प्रखर बौद्धिक चेतना के लक्षण मिलते हैं जो गद्दियों और सिलसिलों की मठी या सरकारी नीतियों से अलग हैं। इस अर्थ में जायसी यदि सूफ़ी हैं तो कुजात सूफ़ी हैं।''** वास्तव में जायसी के बारे में विजयदेवनारायण साही का यह कथन सही है। भारत में सूफ़ी मत के उद्भव और विकास के युग में तो जायसी को सूफ़ी नहीं माना गया, किंतु बाद में उनको लेकर तरह-तरह के विभ्रम खड़े किये गये और जायसी को सूफ़ी सन्त और सूफ़ी कवि मान लिया गया। जायसी को सूफ़ी कवि प्रमाणित करने के लिए **पदमावत** के उन स्थलों को बार-बार दोहराया गया जिनमें सूफ़ीमत की झलक मिलती है। आचार्य शुक्ल ने **पदमावत** के अन्त के जिस कड़वक **''तन चितउर मन राजा कीन्हा''** के आधार पर **पदमावत** में रूपकत्व के निर्वाह की कोशिश की, वह कड़वक ही प्रक्षिप्त है। डॉ0 माता प्रसाद गुप्त ने इसे प्रक्षिप्त सिद्ध करके जायसी और पदमावत के बारे में फैले बहुत सारे विभ्रमों को दूर कर दिया।

जायसी ने **पदमावत** के जिस कड़वक में गुरुओं की एक लंबी सूची दी है, उसके आधार पर भी उन्हें सूफ़ीमत के किसी संप्रदाय से जोड़ना गलत है। प्रो0 विजयदेव नारायण साही ने ठीक ही लिखा है कि **''जायसी के पदमावत में न सिर्फ़ एक विशेष जीवन-दृष्टि है, बल्कि एक स्पष्ट सामाजिक सांस्कृतिक समन्वय भी है। गुरुओं की समूची सूची से इसका मिज़ाज बैठाना कठिन है।''**

जायसी के सूफ़ी होने के प्रमाणस्वरूप **पदमावत** को एक और तरह से हथियार बनाया जाता है। वह हथियार यह है कि **पदमावत** मसनवी शैली में लिखा गया एक प्रेमाख्यानक काव्य है। मसनवी फारसी की एक शैली है और ज्यादातर सूफ़ी प्रेमाख्यान इसी शैली में लिखे गये। यहाँ मसनवी और **पदमावत** प्रेमाख्यान के बारे में बस इतना कहना पर्याप्त होगा कि शैली मात्र के अनुकरण से कोई रचना किसी सम्प्रदाय के मतों को प्रतिपादित नहीं करती और दूसरे **पदमावत** प्रेमकाव्य ही नहीं है। इसमें युद्ध का भी विशद वर्णन हुआ है।

इस तरह जायसी मननशील और मानवीय संवेदना के कवि थे। उन्हें जीवन का व्यापक अनुभव था। उनका यही अनुभव उनकी कृति **पदमावत** में दिखायी पड़ता है। जायसी ने कहीं भी इस महान काव्य ग्रंथ को सूफ़ी काव्य मानने का आग्रह नहीं किया है, हालाँकि वे प्रेम पर विशेष जोर देते हैं। जायसी के लिए **पदमावत** एक प्रेम कथा है, बाकी कुछ नहीं। उनका आग्रह बस यहीं है -

प्रेम कथा यहि भाँति बिचारहु।

और उन्होंने इस प्रेमकथा के लिखने का प्रयोजन भी बताया है -

औ मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।

जायसी और उनके **पदमावत** की व्याख्या के लिए इन पंक्तियों को ध्यान में रखना जरूरी है; नहीं तो जायसी के साथ अन्याय की पूरी संभावना है।

जब किसी कवि को किसी खास संप्रदाय से जोड़ दिया जाता है और साहित्यिकों में एक भ्रमपूर्ण धारणा जड़ जमा लेती है तो उसे तोड़ना आसान नहीं होता है। इससे पहले आपने देखा कि जायसी एक कवि थे, किसी सूफी संप्रदाय से उनका संबंध नहीं था। यह अलग बात है कि **पदमावत** के कुछ थोड़े-से स्थल सूफी सिद्धान्तों के अनुकूल हैं अन्यथा समूचा **पदमावत** एक लौकिक प्रेमकाव्य है जिसमें प्रेम और युद्ध को समान महत्व दिया गया है। फिर भी सूफीमत में प्रेम के स्वरूप और प्रेम के बारे में जायसी की अवधारणा का विवेचन ज़रूरी है।

सूफी मत एक दर्शन है जिसमें प्रेम ही भक्ति का साधन है। यह प्रेम नितान्त लौकिक है, किन्तु सूफी इस सांसारिक प्रेम को इतना उदात्त और दिव्य बना देते हैं कि वह अलौकिक प्रेम में बदल जाता है। सूफीमत की शब्दावली में इसे इश्क मज़ाजी से इश्क हकीकी में रूपान्तरण कहा जाता है। ईश्वर के प्रेम में आकंठ डूबा और विरह में रत होकर सूफी संसार से अलग हो जाता है। प्रेम और ''प्रेम पियाला'' के लिए सूफी हमेशा लालायित रहते हैं। प्रेम के द्वारा ईश्वर या सत्य का आभास करके वे उन्माद की दशा में पहुँचते हैं और ईश्वर में एकाकार हो जाते हैं। इश्क हकीकी तक पहुँचने के लिए वे इश्क मजाजी का सहारा लेते हैं। वे स्वयं को जीवात्मा या आशिक मानते हैं और स्त्री या परमात्मा को माशूक। माशूक हमेशा सौंदर्यपुंज होता है जो खुदा के जमाल का सूचक है। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए सूफी अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाते हैं। फारसी के सूफी कवियों में ही नहीं, बल्कि हिन्दी के सूफी कवियों में भी यह प्रवृत्ति समान रूप से दिखायी पड़ती है। मुल्ला दाउद, कुतुबन, मंझन और नूर मुहम्मद सभी ने अपने काव्यों में इसी पद्धति का अनुसरण किया है। इस तरह हिन्दी में दाम्पत्य प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम की एक नयी शैली विकसित हुई। भारतीय जीवन और दर्शन में इस तरह की प्रेमकथाएँ नहीं थीं।

सूफियों ने इस्लाम को सहज और सरल बनाने की कोशिश की। इसलिए उन्होंने ईश्वर भक्ति के लिए प्रेम को अर्थात् मधुरा भक्ति को चुना। उन्होंने योग और ज्ञान को नहीं, प्रेम और उससे उत्पन्न विरह को महत्व दिया। जायसी ने इसीलिए प्रेम (सांसारिक प्रेम) को ईश्वरीय प्रेम माना। प्रेम से स्व की भावना से मुक्ति मिल जाती है। प्रेम सौंदर्य से उत्पन्न होता है। अत: सूफियों ने ईश्वरीय सौंदर्य को अपने माशूक में ही देखा। यह सूफी दर्शन है। इसीलिए जायसी ने लिखा -

जब लगि विरह न होइ तन, हिये न उपजइ पेम।
तव लगि हाथ न आव तप, करम धरम सत नेम॥

हम चाहें तो इस दोहे को सूफीमत की प्रेमसंबंधी अवधारणा से जोड़ सकते हैं, किन्तु किसी एक दोहे या कुछ छंदों के आधार पर जायसी के प्रेम को सूफीमत के अनुकूल सिद्ध करना ठीक नहीं होगा। हालाँकि जायसी सृष्टि की रचना का उद्देश्य हज़रत मुहम्मद से प्रेम स्वीकारते हैं :

कीन्हेसि पुरुष एक निरभरा। नाउं मुहम्मद पूनिउं करा।
प्रथम जोति विधि तोहि केर साजी। ओ तेहि प्रीति सिप्टि उपराजी।

जायसी के व्यक्तित्व के दो रूप हैं। जन्म से मुस्लिम होने के कारण जायसी की इस्लाम और हज़रत मुहम्मद में आस्था स्वाभाविक है, लेकिन यह जरूरी नहीं कि तत्कालीन सूफी सम्प्रदायों से भी उनका संबंध रहा ही हो। इसके ठीक विपरीत जायसी का कवि व्यक्तित्व है जहाँ वे सिर्फ कवि हैं - प्रेम और विरह के कवि। यहाँ न तो वे मुसलमान हैं और न ही सूफी। वे प्रेम में आहत हैं, इसीलिए उनके बोल, उनकी अभिव्यक्ति में प्रेम और विरह की तीव्र वेदना है -

जेहि के बोल विरह के छाया। कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया॥

इसीलिए उन्होंने **पदमावत** का उपसंहार करते हुए यह स्वीकार किया है कि इस क़था (पद्मिनी की कथा) को मैंने जोड़कर सुनाया है यानी अपनी उर्वर कल्पना के द्वारा इसका निबंधन किया है। इसी कड़वक में उन्होंने "प्रेम की पीर, रकत की लेई" और नैनजल से भीगी गाढ़ी प्रीति की भी चर्चा की है। आगे उन्होंने लिखा है -

औ मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।।

अर्थात् मैंने सोच-विचार कर, जो मुझे अच्छा लगा ऐसे काव्य की रचना की। ज़ाहिर है, जायसी किसी मत-मतान्तर के चक्कर में न पड़ कर स्वच्छन्द रूप से प्रेम को अपनी भाषा में व्याख्यायित करने की बात कह रहे हैं, यशप्राप्ति तो अगला उद्देश्य है ही।

पदमावत की संरचना को देखते हुए साही के शब्दों में यह कहना गलत न होगा कि "**पदमावत** में सूफी तत्व हैं, लेकिन वे कथा के प्रधान अंश नहीं हैं।" यदि **पदमावत** से उन गिने चुने अंशों को निकाल दिया जाय तो भी न तो **पदमावत** पर कोई फर्क पड़ेगा और न ही जायसी की प्रेम संबंधी दृष्टि पर। एक मानवीय संवेदना का स्वच्छन्द कवि जिस तरह नागमती के विरह वर्णन में रमता है उसी प्रकार तोते के उड़ जाने पर पदमावती के दुख में भी शरीक होता है। इस तरह प्रेम की पीर का यह कवि अपनी बौद्धिक सधनता और रागात्मक वृत्ति को इतिहास और लोककथा के समन्वय में लगा देता है। यहाँ न तो एकेश्वरवाद है और न ही अद्वैतवाद। यहाँ विशुद्ध प्रेम है और यह प्रेम परम्परा से जुड़ा हुआ है। जायसी से पहले भी प्रेम पर बहुत कुछ लिखा जा चुका था। जायसी उससे परिचित थे। इसीलिए जायसी बहुत ही नम्रता के साथ यह स्वीकार करते हैं कि मैं तो सभी कवियों के पीछे-पीछे चलने वाला हूँ - **हौं सब कबिन केर पछिलगा।** श्रेष्ठ कवियों के पीछे चलने वाले इस कवि ने सब कुछ जाना-पहचाना है। उसे भारतीय और फारसी की काव्य-परंपराएँ और प्रेम के स्वरूप की जानकारी है। उसे इतिहास की भी जानकारी है और लोक की भी। इसीलिए वह सबका समन्वय करने में सफल रहा है। यदि उसके **पदमावत** में सूफी मत आ गया है तो यह आकस्मिक नहीं है, क्योंकि वह दौर ही अनेक मत-मतान्तरों और अध्यात्म दर्शन का था। इनके बीच से जायसी ने प्रेम के मानवीय स्वरूप को बचाये रखा, यह जायसी की सबसे बड़ी खूबी है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि जायसी किसी मत-मतान्तर के चक्कर में न पड़कर स्वच्छन्द रूप से प्रेम को नया स्वरूप दे रहे थे, इसलिए जायसी की कविता में व्यक्त प्रेम का स्वरूप सूफ़ीमत के प्रचलित प्रेम से अलग है। यही कारण है कि उनका प्रेम मानवीय संवेदनाओं से भरा हुआ है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी सूफीमत के आधार पर **पदमावत** की व्याख्या करते समय **पदमावत** के प्रेम और विरह-खासतौर से नागमती वियोग खंड - में काफी रम गये हैं। नागमती वियोग खंड में एक स्त्री की कोमल भावनाओं का मार्मिक चित्रण हुआ है, इसे शुक्ल जी ने भी माना है। इसलिए जायसी को सूफी कवि मानकर **पदमावत** में रतनसेन-पदमावती के लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम मान लेना ठीक नहीं है। क्योंकि इससे रूपक का निर्वाह नहीं हो पाता। **पदमावत** को जायसी ने इस दृष्टि से लिखा भी नहीं है। इसे केवल संयोग ही कहा जाएगा कि जायसी मुसलमान थे, लेकिन वे इस्लाम धर्म से ऊपर उठे हुए सार्वभौमिक प्रेम के कवि थे। जायसी शुद्ध रूप से प्रेम के कवि थे-इससे भी बढ़कर जायसी जनकवि थे जिन्होंने लोक प्रचलित रतनसेन-पदमावती की प्रेमकथा के लोकरूप को सुरक्षित रहने दिया है।

पदमावत एक लौकिक प्रेम काव्य है। कुछ संकेतों के आधार पर उसे सूफी काव्य मानना ठीक नहीं है। जैसे सूफीमत में ईश्वर के प्रति प्रेम जागृत होना, आशिक का ईश्वर के एकनिष्ठ प्रेम में विरही होकर उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना और प्रेम की अनन्यता के कारण आशिक यानी जीव का और माशूक यानी ब्रह्म का एकलय हो जाना। यही वस्ल है, यही फना और बका है जहाँ से साधक फिर इस असार संसार की ओर रुख नहीं करता है। **पदमावत** को देखते हुए कुछ दूर तक ऐसा लगता है कि जायसी का उद्देश्य यही है अर्थात् वे रतनसेन-पदमावती के प्रेम और दोनों के मिलन से सूफी दर्शन का प्रतिपादन करना चाहते हैं, लेकिन जब वे इससे आगे बढ़ते हैं और कथा इतिहास और लोककथा के समन्वय से एक नया रूप ग्रहण करती है तब सूफीमत दूर-दूर तक नहीं दिखायी पड़ता। रतनसेन के पदमावती के साथ चित्तौड़ आने, पदमावती और नागमती से समान रूप से पत्नीत्व का व्यवहार करने, पदमावती और नागमती के सौतियाडाह, अलाउद्दीन और देवपाल द्वारा पदमावती को प्राप्त करने की कोशिशें और रतनसेन की मृत्यु के बाद पदमावती और नागमती द्वारा सती होने आदि में सूफीमत कहाँ है? अगर नागमती "दुनिया का धंधा" है और अलाउद्दीन माया है तो रतनसेन अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के बाद पुनः उसी दुनिया धंधे और माया में क्यों फंसने के लिए वापस आता है? वैसे भी

NMDC-064

अलाउद्दीन का माया रूपक ठीक नहीं है। माया अगर हो सकती है तो केवल नागमती जो रतनसेन के मार्ग में रुकावट डालने की कोशिश करती है। इसी सिलसिले में यह भी विचारणीय है कि अगर पदमावती ब्रह्म है तो वह जीव से वियुक्त होकर विलाप क्यों करती है? क्या ब्रह्म जीव से अलग होकर दुखी होता है? क्या ब्रह्म जीव की मृत्यु के बाद स्वयं मर जाता है? अगर नहीं तो पदमावती क्यों विरह में विलाप करती है और अंत में सती हो जाती है? वास्तव में जायसी का यह विचार था ही नहीं कि वे सशक्त कवि होकर अपनी रचना पर इतने सारे प्रश्न उठाने का मौका देते। सूफीमत के चौखटे में बंधकर प्रेमाख्यान लिखना उनका उद्देश्य होता तो वे रतनसेन-पदमावती की कथा को रतनसेन-पदमावती मिलन तक ही सीमित रखते, उसे आगे बढ़ाते ही नहीं। इस दृष्टि से उसका कोई औचित्य ही नहीं है। दरअसल जायसी का उद्देश्य तो कुछ और ही था। उन्हें प्रेम के मर्यादित और उदात्तरूप की अभिव्यक्ति करना था इसलिए उन्होंने कथा में इतने मोड़ दिये, प्रेम को प्रस्फुटित होने के इतने अवसर दिये। निस्संदेह जायसी इसमें सफल हुए हैं।

7.4 कवि जायसी और उनका पदमावत

जायसी सुरति- शृंगार के कवि हैं, प्रेम-अनुराग के कवि हैं। **पदमावत** में उन्होंने ऐसी घटनाओं का विधान किया है जो लोकोत्तर हैं याअयथार्थपरक। लेकिन ये घटनाएँ अविश्वसनीय नहीं हैं। हीरामन का आदमियों की तरह बोलना, शिव-पार्वती द्वारा रतनसेन को सिद्धि गुटिका देना, समुद्र द्वारा रतनसेन को पाँच अमूल्य रत्न देना आदि अनेक घटनाएँ लोकोत्तर हैं जो केवल लोककथाओं में ही मिलती हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे जायसी ने इस कथा को सीधे लोक से ग्रहण किया है और वे लोकप्रचलित कथा से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने उसके बहुत सारे अंशों को संशोधित करना मुनासिब नहीं समझा।

जायसी प्रेम के कवि हैं। उनकी मुख्य चिन्ता है प्रेम के लौकिक रूप को व्यापक और कालातीत बनाना। साही जी ने ठीक ही लिखा है कि "जायसी का प्रस्थान बिन्दु न ईश्वर है न कोई नया नया अध्यात्म। उनकी चिन्ता का मुख्य ध्येय मनुष्य है।" इसीलिए जायसी ने अपनी कविता के केन्द्र में मनुष्य को रखा है, वह मनुष्य जो सुख में उल्लसित होता है और दुख में रोता है। वह सच भी बोलता है और झूठ भी। ईर्ष्या-द्वेष सभी मानवोचित भाव उसमें निहित हैं। प्रेम में वह सब कुछ भूल जाता है। जायसी ने इसी मनुष्य के प्रेम को महाकाव्यात्मक गरिमा प्रदान की। जायसी के उस प्रेम-काव्य में सिर्फ प्रेम नहीं, ट्रेजेडी भी है जिसको सुनकर हर आदमी तिलमिला जाता है-

मुहमद कवि जो प्रेम का, ना तन रकत न माँसु।
जेईं मुख देखा तेइँ हँसा, सुना ते आये आँसु।।

अर्थात् प्रेम के इस कवि के शरीर में न रक्त है, न माँस। वह वृद्ध हो चला है और उसका चेहरा सुरूप नहीं है। इस कवि को जो भी देखता है उसे हँसी आती है, लेकिन जब वह उसकी त्रासद प्रेमकथा को सुनता है तो रोये बिना नहीं रहता।

जायसी की इस उक्ति को ध्यान में रखते हुए यदि **पदमावत** को देखें तो, साफ पता चलता है कि इस प्रेमाख्यान में एकनिष्ठ प्रेम तो है, किन्तु उसमें जायसी का ट्रेजिक विज़न भी है। **पदमावत** में रतनसेन और पदमावती का प्रेम सीधा-सपाट नहीं है। यह अनेक विघ्न-बाधाओं से गुज़रता हुआ चरम बिन्दु पर पहुँचता है। ध्यान रहे कि जायसी ने यह प्रेमाख्यान इतिहास और लोककथा को अपनी कल्पना से समन्वित करके लिखा है। इतिहास भी क्या, उसमें इतिहास के सिर्फ कुछ संकेत भर हैं, है यह भी जनश्रुति ही। उन्होंने इतिहास से सिर्फ रतनसेन को ले लिया और उसे लोककथात्मक रूप दे दिया। इसलिए अगर **पदमावत** को लोककथा का काव्यमयरूप कहा जाय तो गलत नहीं होगा। कथा की शुरूआत ही लोककथा के आधार पर हुई है। सिंघलदीप की राजकुमारी के योग्य कोई वर नहीं मिल रहा है। राजा गंधर्वसेन परेशान है। पदमावती का सर्वज्ञ सुअटा पदमावती के लिए वर ढूंढने की बात कहता है जिस पर गंधर्वसेन नाराज़ होकर सुअटे को मारने का हुक्म देता है। लेकिन उसे बचा लिया जाता है। आखिर सुअटा ही पदमावती के योग्य वर की तलाश करता है और रतनसेन के मन में पदमावती के प्रति चाह उत्पन्न करता है। यह ऐसी चाह है जो रतनसेन को राजा से जोगी बना देती है। वह सत्ता छोड़ देता है और एक सामान्य आदमी बनकर पदमावती को प्राप्त करने की कोशिशें करता है। जायसी ने "शिव-पार्वती खंड" में रतनसेन के एकनिष्ठ प्रेम को उभारते हुए शिव से सिद्धि गुटिका प्रदान करायी है। तात्पर्य यह है कि **पदमावत** की पूरी रचना-प्रक्रिया लोकगीतों और निजंधरी कथाओं से भिन्न नहीं है।

NMDC-064

पदमावत के दूसरे भाग में इस स्वरूप को बनाये रखने और प्रेम की महत्ता स्थापित करने के लिए जायसी ने ऐतिहासिक कथा को भी लोककथात्मक बना दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह स्वीकार करते हुए लिखा है कि ''प्रेम के स्वरूप का दिग्दर्शन जायसी ने स्थान-स्थान पर किया है। कहीं तो यह स्वरूप लौकिक ही दिखायी पड़ता है और कहीं लोकबंधन से परे। .... पर जायसी की दृष्टि इस लौकिक प्रेम से आगे बढ़ी हुई है। वे प्रेम का वह विशुद्ध रूप दिखाना चाहते हैं जो भगवत्प्रेम में परिणत हो सके।'' लेकिन जायसी कृत **पदमावत** की ही निम्नलिखित चौपाइयों पर ध्यान दिया जाय तो यह साफ ज़ाहिर होता है कि रतनसेन सिर्फ पदमावती के अलावा कुछ नहीं चाहता। पदमावती एक तरफ और स्वर्ग-नरक सब एक तरफ -

ना हौं सरग क चाहौं ग्राजू। ना मोहि नरक सेंति किछु काजू।।
चाहौं ओहिकर दरसन पावा। जेइ मोहि आनि प्रेम पथ लावा।।

इसीलिए रतनसेन पदमावती को प्राप्त करने के लिए, उसकी एक झलक पाने के लिए पर्वत तो क्या आकाश की ऊंचाइयाँ नापने के लिए तैयार है। जिस पर्वत पर उसकी प्रिया के दर्शन संभव हों, उस पर्वत पर वह पाँव तो क्या सिर से चढने के लिए तैयार है। दरअसल जायसी कहना चाहते हैं कि **''पुरुषहि चाहिय ऊंच हियाऊ''।** अर्थात् प्रेम के लिए बहुत बड़े कलेजे की जरूरत पड़ती है। ऊंचे कार्य के लिए जान भी देना पड़े तो पीछे नहीं हटना चाहिए-

राजै कहा दरस जौ पावौं। परबत काह, गगन कहँ धावौं।
जेहि परबत पर दरसन लहना। सिर सौं चढ़ौं, पाँव का कहना।
पुरुषहि चाहिय ऊंच हियाऊ। ....
..........ऊंचे काज जीउ पुनि दीजै।

यही है-जायसी के प्रेम का आदर्श-प्रेम के लिए सर्वस्व न्योछावर करना और उसे किसी भी कीमत पर प्राप्त करना। यहाँ न तो अन्योक्ति है, न रूपक। यह बस लौकिक प्रेम है।

रतनसेन का प्रेम तब तक एकतरफा है जब तक उसकी मुलाकात पदमावती से नहीं हो जाती। पदमावती से मिलन के पूर्व तक रतनसेन एक रसलोभी भौंरे की तरह है जो पदमावती के रूप-सौंदर्य को सुनकर राजपाट छोड़ देता है। रतनसेन के प्रति पदमावती के हृदय में उसी वक्त प्रेम का उदय होता है जब वह पहली बार रतनसेन को देखती है। पदमावती के दर्शनमात्र से रतनसेन बेहोश हो जाता है। पदमावती उसके हृदय पर यह लिखकर चली गयी कि ''जोगी, तूने भिक्षा प्राप्त करने योग्य योग नहीं सीखा। जब फलप्राप्ति का समय आया तब तू सो गया।'' लेकिन घर जाकर पदमावती रतनसेन के वियोग में विलाप करने लगी। वह भी प्रेममय हो गयी। वह सोचती है, मैं जानती थी कि यौवन रस-भोग के लिए ही है, लेकिन यौवन बहुत दुखदायी, संताप और वियोग का कारण है। यौवन का भार सह सकना मुश्किल है। यौवन तो घोड़े की तरह है। इसे अपने वश में रखना चाहिए और उसे स्वच्छन्दतापूर्वक हर कहीं नहीं जाने देना चाहिए। यौवन है, इसलिए विरह है, जैसे चंदन में आग। यौवन उगता हुआ चाँद है और विरह राहु। इसलिए जब तक प्रिय मिल नहीं जाता तब तक तो प्रेम की इस पीर को सहना ही पड़ेगा। इस संसार में जन्म पाना ही सब कुछ नहीं है, जन्म लेने के बाद प्रिय को पा लेना ही सब कुछ है -

तुम पुनि जाहु बसंत लेइ, पूजि मनावहु देव।
जीउ पाइ जग जनम है, पीउ पाइ कै सेव।।

तात्पर्य यह है कि रतनसेन और पदमावती एक-दूसरे के प्रेम और विरह में अलग-अलग जल रहे हैं। मैथिलीशरण गुप्त की उर्मिला भी तो यही कहती है -

दोनों ओर प्रेम पलता है
सखि, पतंग जलता है, दीपक भी जलता है।

रतनसेन-पदमावती के प्रथम मिलन में ही प्रेम प्रस्फुटित होता है और निरंतर विकसित होता हुआ उदात्त रूप ग्रहण कर लेता है। इसको हम ''लक्ष्मी-समुद्र खंड'' में भी देख सकते हैं और ''पदमावती-नागमती-सतीखंड'' में भी। और ऐसे ही प्रेम को लेकर ज़ायसी ने एक श्रेष्ट प्रेमकथा लिखी है। प्रेमकथा के लिए ऐसा ही प्रेम आदर्श हो सकता है। तभी तो विजयदेव नारायण साही ने लिखा है कि ''पदमावती जिन्दगी का दर्शन नहीं, जिन्दगी है। वह जायसी का तसव्वुफ नहीं, जायसी की कविता है।''

वास्तव में कविता में दर्शन हो सकता है, किंतु कविता दर्शन नहीं होती। जायसी ने ऐसी ही कविता रची है जिसमें दर्शन तो है किन्तु वह दर्शनमात्र नहीं है। अर्थात् **पदमावत** में किसी दार्शनिक आधार को नहीं ग्रहण किया गया है, जायसी ने ख़ुद अपना एक अलग दर्शन बनाया है - प्रेम का दर्शन। और यह दर्शन परंपरा से अलग नहीं है।

रतनसेन का ऐकान्तिक प्रेम जायसी का प्रियनहीं है। वे उसके प्रेम को विस्तार देना चाहते हैं। इसीलिए उन्होंने रतनसेन को नागमती की याद दिलाकर उसे पुन: चित्तौड़ की ओर उन्मुख किया है। यदि जायसी का उद्देश्य **पदमावत** को सूफी ग्रंथ बनाना होता तो वे ऐसा हरगिज़ नहीं करते। जायसी उस दाम्पत्य प्रेम में ही प्रेम की पूर्णता देखते हैं जो नागमती में ही संभव है। इसीलिए जायसी ने पदमावती को पूरी कथा में प्रेमिका ही बने रहने देना उपयुक्त समझा है। कविता के लिए प्रेम चाहिए जो पदमावती में है और प्रेम की पूर्णता दाम्पत्य में होती है, जो नागमती में है। रतनसेन पदमावती के साथ चित्तौड़ वापस आता है।

चित्तौड़ से सिंघलदीप की यात्रा पदमावती को प्राप्त करने के सारे उपक्रमों के बीच एक लम्बा समय बीत जाता है। नागमती को अपने पति की याद आती रहती है। वह उसके विरह में तड़पती रहती है। जायसी नागमती को नहीं भूलते। वे नागमती की विरहावस्था को स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत करते हैं। नागमती वियोग वर्णन खंड मे नागमती की कारुणिक दशा का चित्रण करते हुए जायसी ने एक स्त्री की जो छवि प्रस्तुत की है वह एक भारतीय स्त्री की छवि है। वह ''घरनारी'' है। और यह घरनारी मतिहीन है -

तुम्ह तिरिआ मतिहीन तुम्हारी। मूरुख सो जो मतै घरनारी।

स्त्री के प्रति पुरुष की यह मानसिकता पुरानी है। यह विशुद्ध भारतीय धारणा है। जायसी ने भारतीय पुरुष की इसी मानसिकता को उजागर किया है। रतनसेन नागमती को डाँट देता है। वह सोचता है कि वह पुरुष मूर्ख है जो घरनारी की राय से चलता है।

पदमावत के उपसंहार में, जिसे अनेक विद्वानों ने प्रक्षिप्त प्रमाणित कर दिया है, नागमती के प्रति यह कथन कि ''नागमती दुनिया का धंधा'' यानी माया है, ठीक नहीं है। नागमती एक सम्पूर्ण स्त्री है जिसमें सभी मानवीय गुण हैं। वह अपने पति से डूबकर प्यार करती है, उसके विछोह में तड़पती है, पति को उससे दूर करने वाले सुआ को कोसती है, क्योंकि वह उसके पति को ही नहीं ले गया, बल्कि उसकी जान लेकर चला गया -

सुआ काल होइ लेइगा पीऊ। पिउ नहिं जात जात बर जीऊ।।

नागमती आशा और निराशा में डूबती-उतराती रहती है। वह अपने पति के दो मीठे बोल सुनने के लिए बेचैन है। असीम दुख में भी वह अपने को समझाती है कि यह विरह क्षणिक है। रसलोभी भौंरा अगर कमल के फूल के पास चला गया है तो क्या हुआ। उसे जब मालती पुष्प की याद आयेगी तो वह वापस लौट आएगा। जैसे कुछ दिनों तक सूखा रहने के बाद सरोवर पुन: जल से भर जाते हैं वैसे ही उसके विरही जीवन में सुख का संचार होगा लेकिन नागमती का दुख कम नहीं होता, दिन-दिन बढ़ता ही जाता है। वह हारकर भौंरे और कौवे से संदेश भेजती है कि जाकर मेरे पिउ से कह दो कि वह नागमती तुम्हारे वियोग की आग में जलकर मर गयी है। उसी के धुएँ से हमारा रंग काला हो गया है। शरीर में एक बूँद भी खून नहीं बचा है। रत्ती-रत्ती रिसकर वह आँखों से बह गया है। वह ख़ून के आँसू रोती है। उसके आँसू जमीन पर गिरते हैं और धारा बनकर बहने लगते हैं मानो बीरबहूटियाँ रेंग रही हों।

रतनसेन को नहीं आना था, नहीं आया। नागमती उस विरह की आग को सहती रही जिसे गिरि, समुद्र, शशि, रवि और मेघ तक नहीं सह पाते। नागमती सती है - पतिव्रता है - रतनसेन की ब्याहता है। आखिर वह हारकर मान लेती है कि उसका पिउ नहीं आएगा, क्योंकि वह जिस देश में गया है वहाँ पावस, हेमंत, वसंत और कोकिल, पपीहा कुछ भी नहीं हैं जिनको यादकर वह वापस आये।

नागमती वियोग वर्णन में जायसी के कवि हृदय की सारी तरलता, करुणा और संवेदना मोम की तरह पिघल गयी है। जायसी ने जिस तन्मयता के साथ नागमती के वियोग का चित्रण किया है उतनी तन्मयता से पदमावती का नहीं। इसीलिए सम्पूर्ण **पदमावत** में नागमती वियोग खंड कवित्व की दृष्टि से

सर्वाधिक सशक्त और मार्मिक है। सीता के वियोग वर्णन में तुलसीदास को भी इतनी सफलता नहीं मिली है जितनी जायसी को नागमती के वियोग वर्णन में।

नागमती वियोग वर्णन में जायसी ने बारहमासा का प्रयोग किया है। यह बिल्कुल लोकगीतों की तर्ज पर है। भारतीय लोकगीतों में बारहमासा की परम्परा बहुत पुरानी है। लोकगीतों में बारहमासे की शुरूआत प्राय: आषाढ़ से की जाती हैं। जायसी ने भी उसी परंपरा का अनुसरण किया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि **नागमती का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। नागमती उपवनों के पेड़ों के नीचे रात भर रोती फिरती है। इस दशा में पशु, पक्षी, पेड़, पल्लव जो कुछ सामने आता है उसे वह अपना दुखड़ा सुनाती है। वह पुण्य दशा धन्य है जिसमें ये सब अपने सगे लगते हैं और यह जान पड़ने लगता है कि इन्हें दुख सुनाने से जी हल्का होगा। .... जायसी ने जिस प्रकार मनुष्य के हृदय में पशु-पक्षियों से सहानुभूति प्राप्त करने की संभावना भी है उसी प्रकार पक्षियों के हृदय में सहानुभूति के संचार की भी।**

वास्तव में शुक्ल जी ने जिस सहृदयता से **पदमावत** के इस खंड की व्याख्या की है, वह अद्वितीय है। शुक्ल जी की रसग्राही दृष्टि ने नागमती के विरह की व्याख्या करते हुए जायसी के कवित्व को ही सराहा है।

जायसी ने प्रेम को मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रखा है। वे प्रेम का विस्तार करते हैं। उनकी नज़र में सारा अग-जग प्रेममय है। पदमावती यदि सुए के उड़ जाने पर दुखी होती है तो दुख के क्षणों में नागमती अपनी व्यथा कम करने के लिए पशु-पक्षियों से बातें करती है। प्रेम को व्यापकता प्रदान करने के लिए जायसी ने रतनसेन को राजा से जोगी बना दिया है और पटरानी नागमंती को सामान्य स्त्री के रूप में चित्रित किया है जो इस चिन्ता में डूबी हुई है कि -

पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह मंदिर को छावा।।

कबीर स्व-भाव के विलोप को ही प्रेम मानते हैं, जायसी की भी यही मान्यता है-

करब पिरीत कठिन है राजा

वे एक कदम और आगे बढ़कर कहते हैं-

जेहि तन प्रेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत नैन नहिं आँसू।।

इसीलिए जायसी की नज़र में सभी लोग इस प्रेम पंथ पर चलने योग्य नहीं है। प्रेमपंथ अत्यंत विकट है, जहाँ दुख ही दुख है -

एहि रे पंथ सो पहुँचे, सहै जो दुख वियोग।

दरअसल जायसी का यही ''पंथ'' है, महदवी या चिश्तिया नहीं जिसको लेकर जायसी को तसव्वुफ के चौखटे में फिट करने की कोशिशें की जाती रही हैं और **पदमावत** को रूपक, अन्योक्ति और समासोक्ति कह कर उसके कद को छोटा करने की कोशिश की गयी है। जायसी की पदमावती में ईश्वरीय सत्ता का दर्शन करने वाले डॉ0 श्याममनोहर पांडेय ने रतनसेन के वियोग को ब्रह्म के लिए तड़पते हुए जीवात्मा के वियोग में तब्दील कर दिया है-

रकत के बूँद कया जत अहहीं। पदमावति पदुमावति कहहीं।।

डॉ. पांडेय ही नहीं, **पदमावत** की सूफीमत के आधार पर व्याख्या करने वाले सभी विद्वानों ने इस या इस जैसी पंक्तियों की व्याख्या की है। इस पंक्ति के सामान्य अर्थ को पता नहीं क्यों उन्होंने इतना कठिन बना दिया है। जायसी साफ-साफ कहना चाहते हैं कि शरीर में जितनी भी खून की बूँदे हैं सब एक स्वर से पदमावती -पदमावती कह रही हैं, कुछ उसी तरह जैसे कोई किसी को रोम से रोम चाहता है या रोम रोम से खुशी फूटती है।

7.5 सारांश

इस इकाई में आपने सूफ़ी मत, जायसी और उनके **पदमावत** का अध्ययन किया।

सूफ़ी मत एंक दार्शनिक अवधारणा है, जो फ़ारसी काव्य से होती हुई हिन्दी काव्य तक आयी है। मलिक मुहम्मद जायसी की चर्चा सूफ़ी दर्शन की इसी प्रचलित धारणा के आधार पर की जाती है और उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ सूफ़ी कवि कहा जाता है। सूफ़ी मत का आधार इश्क़ अर्थात् प्रेम है।

सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति और भारत के सूफ़ी संप्रदायों के संदर्भ में आपने देखा कि जायसी का संबध मेहदवी संप्रदाय से जोड़ा जाता है और उनका गुरू शेख बुरहान को बताया जाता है। जायसी ने अनेक गुरूओं से दीक्षा ली थी। आपने सूफ़ी मत पर अनेक दर्शनों के प्रभाव का भी अध्ययन किया है। लेकिन जायसी के **"पदमावत"** में कुछ थोड़े से स्थल हैं, जो सूफ़ी सिद्धान्तों के अनुकूल हैं, बाकी सम्पूर्ण **पदमावत** लौकिक प्रेम काव्य है जिसमें प्रेम और युद्ध को समान महत्व दिया गया है। दरअसल जायसी के दो व्यक्तित्व हैं - एक, कुरान और हज़रत मोहम्मद में पूरी आस्था रखने वाला और दूसरा, कवि - प्रेम और विरह का कवि। यह व्यक्तित्व न मुसलमान है और न ही सूफ़ी। जायसी ने किसी मत-मतान्तर में पड़े बग़ैर प्रेमकथा लिखी है जिसका उद्देश्य है यश - प्राप्ति। इसीलिए उन्होंने अपनी कथा को प्रेमकथा कहा है।

पदमावत के विवेचन के क्रम में आपने देखा कि यह एक लौकिक प्रेमकाव्य है। उसमें सूफ़ी तत्व हैं, किन्तु वे कथा के प्रधान अंग नहीं हैं। जायसी ने इतिहास और लोककथा का अद्भुत समन्वय किया है। उसमें न तो एकेश्वरवाद है और न ही अद्वैतवाद। अतः उसमें रूपकत्व की तलाश अनुचित है। जायसी की मुख्य चिंता है प्रेम के लौकिक रूप को व्यापक और कालातीत बनाना। वे प्रेम का विस्तार करते हैं। उनकी नज़र में सारा अग-जग प्रेममय है।

पदमावत में सूफ़ी मत के अलावा भारतीय वेदान्त और हठयोग आदि अनायास ही आ गये हैं। जायसी का उद्देश्य किसी दर्शन या सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नहीं था।

सारांश यह है कि जायसी प्रेमपंथ के अनुयायी हैं। तुलसी को अगर सारा संसार सीयराममय प्रतीत होता है तो जायसी को प्रेममय। इसीलिए उन्होंने प्रेम को इतनी व्यापकता और सामाजिकता प्रदान की है। जायसी के प्रेम की सामाजिकता को पदमावती के शिवमंदिर गमन के प्रसंग मे देखा जा सकता है जहाँ हर वर्ण और जाति की स्त्रियाँ मौजूद हैं। मनुष्य ही नहीं, जायसी ने मनुष्य के सुख-दुख मे पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों तक को सहभागी बना लिया है। जायसी ने प्रेम की तीव्रता सिर्फ स्त्रियों में ही नहीं दिखलाई है। नागमती और पदमावती में प्रेम की तीव्रता है तो रतनसेन में भी यह कम नहीं है। जायसी ने **पदमावत** में दोहरे प्रेम को बहुत अच्छी तरह निबाहा है।

जायसी के लिए प्रेम की पूर्णता दुख और वियोग है अर्थात् दुख में भी सुख निहित है। प्रेम के मार्ग में दुख में सुख का दर्शन जायसी का मौलिक दर्शन नहीं है, फिर भी, जायसी ने उसे जीवन्तता प्रदान की है। प्रेम में निराशा को वे फिजूल मानते हैं। सच्चा प्रेम है तो मिलन होगा ही चाहे मृत्यु के बाद ही क्यों न हो। जैसे आम और मछली -

बसै मीन जल धरती, अम्बा बसै अकास।
जौं पिरीत पै दुवौ मँह, अंत होहि एक पास।।

वस्तुत: **पदमावत** लौकिक प्रेम काव्य है जिसमें सूफीमत, भारतीय वेदान्त और अद्वैत दर्शन, हठयोग आदि अनायास ही आ गये हैं। जायसी का यह उद्देश्य नहीं प्रतीत होता। वे प्रेमपंथ के सच्चे बटोही हैं। इसीलिए **पदमावत** को उन्होंने उसी तरह समझने का आग्रह किया है जिस रूप में वह लोक में प्रचलित है -

प्रेमकथा यहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जौ बूझेहु पारेहु।।

NMDC-064

7.6 शब्दावली

अनलहक - "मैं परम सत्य हूँ" (महान सूफ़ी साधक मंसूर हल्लाज ने अनलहक अर्थात् "मैं ही (दिव्य) सत्य हूँ" का उद्घोष किया था)

आशिक - सूफ़ी साधक स्वयं को प्रेमी (आशिक) मानता है, परमात्मा का।

इश्क मजाजी - लौकिक प्रेम

इश्क हक़ीकी - आध्यात्मिक प्रेम

जबरूत - साधना की तीसरी मंजिल की अवस्था है। अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति की अवस्था।

तरीक़त - साधना-मार्ग की दूसरी मंजिल है। इसमें साधक पवित्रता का सहारा लेता है। सांसारिक ऊँच-नीच से ऊपर उठ जाता है और उसमें देवदूतों के गुण आ जाते हैं।

तसव्वुफ - सूफ़ी मत, इस्लामी रहस्यवाद

नासूत - सूफ़ी साधना मार्ग की पहली मंजिल की प्रथम अवस्था है।

मलकूत - तरीक़त की मंजिल में साधक की जो अवस्था होती है, उसे सूफी "मलकूत" कहते हैं।

मसनवी - फ़ारसी का एक छंद है। इसका उपयोग प्रायः वर्णनात्मक काव्यों के लिए किया जाता था।

मारिफ़त - सूफ़ी साधना-मार्ग की यह तीसरी मंजिल है। इस मंजिल में (ईश्वरीय ज्ञान) साधक (जीवात्मा) के परमात्मा से मिलन के रास्ते की सारी रूकावटें दूर हो जाती हैं। वह राग-विराग से मुक्त हो जाता है और उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है।

माशूक - सूफ़ी परमसत्ता को प्रायः प्रियतमा (माशूक) के रूप में याद करते हैं।

लाहूत - अंतिम या चौथी मंजिल में साधक की जो अवस्था होती है, उसे "लाहूत" की अवस्था कहा गया है।

शरीयत - सूफ़ी मार्ग की चार मंजिलों में पहली मंजिल है। भारतीय सूफ़ी, सूफ़ी - मार्ग की चार मंजिलें मानते हैं और उन मंजिलों की चार अवस्थाएँ स्वीकार करते हैं। "शरीयत" में साधक धर्मग्रंथ में बताए नियमों और निषेधों को मानता है। इस मंजिल में साधक प्रकृत अवस्था में होता है।

हक़ीक़त - चौथी या अंतिम मंजिल है। हक़ीक का अर्थ परम सत्य है।

7.7 अभ्यास/प्रश्न

1. सूफ़ी मत क्या है ? यह इस्लाम से किस तरह भिन्न है?
2. सूफ़ी मत के कितने संप्रदाय हैं? जायसी का संबंध किस संप्रदाय से है? क्या पदमावत सूफ़ीमत को प्रतिपादित करने वाला काव्य ग्रंथ है?
3. सूफ़ी साधना का मूल आधार क्या है? इश्क मजाजी और इश्क़ हक़ीक़ी से आप क्या समझते हैं?
4. कवि के रूप में जायसी का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 8 पदमावत में लोक परंपरा और लोक जीवन

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 भारतीय काव्य परंपरा और फारसी काव्य परंपरा
8.3 हिंदी प्रेमाख्यान
8.4 पदमावत में प्रेम कथा
8.5 पदमावत की प्रबंधात्मकता
8.6 पदमावत में लोकतत्व
8.7 जायसी की भाषा
8.8 सारांश
8.9 अभ्यास/प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- भारतीय काव्य परंपरा और फारसी काव्य परंपरा से परिचित हो सकेंगे,
- लोकगाथा के रूप में **पदमावत** का अध्ययन करेंगे और साथ ही इसकी प्रबंधात्मकता के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे,
- **पदमावत** में चित्रित लोकजीवन से परिचित हो सकेंगे, और
- लोककवि के रूप में जायसी और उनकी भाषा का अध्ययन कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने जायसी के बारे में बहुत कुछ आवश्यक जानकारी प्राप्त की। मलिक मुहम्मद जायसी के बारे में जब कि यह स्पष्ट हो चुका है कि वे सूफी कवि नहीं, बल्कि सिर्फ कवि हैं और उनका **पदमावत** लौकिक प्रेम काव्य है, अब यह जान लेना आवश्यक है कि जायसी ने **पदमावत** में कितना तत्व भारतीय काव्य परंपरा से ग्रहण किया है और कितना फारसी काव्य परंपरा का। इन दोनों के समन्वय से **पदमावत** का कौन सा रूप सामने आता है। क्या जायसी ने पहली बार भारतीय और फारसी काव्य परंपराओं का समन्वय किया है। आप देखेंगे कि जायसी से पहले भी इन दोनों काव्य-परंपराओं के समन्वय का प्रयास किया जा चुका है। जिन कवियों ने इन दोनों काव्य परंपराओं का समन्वय किया उनमें अमीर खुसरो, असाइत और मुल्ला दाउद प्रमुख हैं।

जायसी ने एक प्रचलित लोककथा और ऐतिहासिक कथा के ताने-बाने से **पदमावत** का कथापट बुना है। ईसमें इतिहास कम है, लोक कथा ज्यादा। लोकगाथा के आधार पर रचे गए इस प्रबंध काव्य में लोक जीवन कितना है, इसकी जानकारी आवश्यक है। लोक गाथा के रूप में **पदमावत** की जाँच-पड़ताल ज़रूरी है, क्योंकि लोक गाथा के अनेक तत्व हैं, इसीलिए **पदमावत** एक साहित्यिक कृति होते हुए भी लोककाव्य की विशेषताओं से अलग नहीं हो पाया है। एक प्रेमाख्यान के रूप में **पदमावत** की सफलता का यही रहस्य है।

लोकगाथा के आधार पर **पदमावत** की विवेचना करते हुए जायसी के लोक कवि व्यक्तित्व का भी विश्लेषण करने की कोशिश की जाएगी। इसी सिलसिले में **पदमावत** की भाषा पर भी विचार किया जाएगा। एक साहित्यिक कृति के लिए अवधी का प्रयोग किस सीमा तक ठीक है, इसको जानना अति आवश्यक है।

जायसी कृत **पदमावत** एक श्रेष्ठ काव्य कृति है, इसलिए इस काव्य कृति में भारतीय और फारसी काव्य परंपरा के साथ उसके लोकथात्मक रूप का समग्र विवेचन इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है।

8.2 भारतीय काव्य परंपरा और फारसी काव्य परंपरा

प्राय: सभी देशों में प्रेम और शृंगार को आधार बना कर जितनी कविताएं लिखी गई हैं उतनी किसी दूसरे विषय पर नहीं। इसका कारण यह है कि प्रेम एक शाश्वत तत्व है जिसके आधार पर स्वस्थ सामाजिकता का निर्माण होता है। मनुष्य ही नहीं, संपूर्ण सृष्टि के अंदर एक राग व्याप्त है जिससे सृष्टि हमेशा सुंदर और सजीव बनी रहती है। इसीलिए प्रेम को जीवन कहा गया है और प्रेम से ही सारे जीवन मूल्य विकसित हुए हैं। साहित्य इसी जीवन मूल्य अर्थात् प्रेम को बचाए रखने की कोशिश करता है।

भारतीय कविता में प्रेम को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। भौतिक जीवन ही नहीं, बल्कि आध्यात्मिक क्षेत्र में भी प्रेम को विशेष स्थान दिया गया है। भक्ति के क्षेत्र में मधुरा भक्ति इसका सबसे सुंदर उदाहरण है। सूफी कवियों की साधना का आधार ही प्रेम या रति है। उन्होंने मजाजी प्रेम को हकीकी प्रेम में बदल दिया। किंतु हिंदी साहित्य में प्रेम के इस नए रूप से पहले जिस विशुद्ध लौकिक प्रेम की प्रतिष्ठा की गई वह अत्यंत उदात्त है। चाहे दुष्यंत-शकुंतला का प्रेम हो चाहे नल-दमयन्ती का, उषा-अनिरुद्ध का प्रेम हो चाहे माधवानल-कामकंदला का - सभी में प्रेम का सरस, किंतु प्रांजल रूप देखने को मिलता है। संस्कृत में कालिदास से लेकर प्राकृत के पादलिप्त सूरी और अपभ्रंश के धनपाल तथा अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान) तक अनेक कवियों ने विशुद्ध प्रेमकथाएं लिखीं और प्रेम को अमरता प्रदान की। यह अलग बात है कि प्राकृत की प्रेम कथाएं जैनियों द्वारा धर्म प्रचार के लिए लिखी गईं। वे प्रेमाख्यान की अपेक्षा चरित काव्य अधिक हैं। लेकिन यहाँ यह बताना जरूरी है कि हिंदी के सूफी कवियों ने अपने पूर्व के इन्हीं प्रेमपरक काव्यों के आधार पर अपने प्रेमाख्यानक ग्रंथों की रचना की। अपवाद को छोड़ दिया जाए तो सूफी और असूफी प्रेमाख्यान इन्हीं प्रेम कथाओं को लेकर या कुछ भारतीय लोककथाओं को लेकर लिखे गए। सूफी प्रेमाख्यान से पहले के कुछ प्रसिद्ध प्रेमपरक काव्य इस प्रकार हैं - अभिज्ञान शाकुंतलम् (कालिदास), नैषधीय चरितम् (श्रीहर्ष), माधवानल कामकंदला चरित्र (कुशलाभ), तरंगवई (पादलिप्त सूरी), लीलावई (कोऊहल), मलय सुंदरी (अज्ञात), भविसयत्तकहा (धनपाल), णायकुमार चरिउ (पुष्प दंत), सुदंसण चरिउ (नयनंदी), करकंडु चरिउ (मुनि कनकामर), उपमसिरी चरिउ (धाहिल), संदेशरासक (अद्दहमाण), नेमिनाथ चउपई (विनयचंद्र सूरि) आदि।

सूफी मत के उद्भव और विकसित होकर एक पुष्ट सम्प्रदाय का रूप ले लेने के बाद उसमें अनेक मसनवियां लिखी गईं। इन मसनवियों को प्रेमाख्यान कहा जाता है। ये मसनवियाँ अरब-फारस की प्रसिद्ध लोककथाओं पर आधारित थीं। इन्हीं कथाओं में से कुछ कथाओं में निज़ामी ने सूफी दर्शन को समाहित किया। अमीर खुसरो पर निज़ामी का बहुत प्रभाव था। उनसे प्रभावित होकर खुसरो ने पाँच मसनवियाँ लिखीं। इसी तरह फारसी के सूफी कवि जामी ने निज़ामी और खुसरो से प्रभावित होकर पाँच मसनवियों की रचना की। इस तरह यह साफ पता चलता है कि हिंदी के सूफी प्रेमाख्यान फारसी मसनवियों से प्रेरित होकर लिखे गए।

फारसी की सभी मसनवियाँ वहाँ प्रचलित प्रेम कथाओं के आधार पर लिखी गईं और उनके द्वारा सूफी मत का प्रतिपादन किया गया। फारसी के सभी सूफी कवियों ने विशुद्ध प्रेम पर बल देते हुए स्त्री-पुरुष के प्रेम को ईश्वरीय प्रेम की तरह पवित्र माना। मौ. रूम ने लौकिक प्रेम को नश्वर मानते हुए अलौकिक प्रेम की बात की। इस तरह उन्होंने प्रेम को अमरत्व प्रदान किया। इसी तरह फारसी के प्राय: सभी सूफी कवियों ने प्रेम की अमरता, जीवन की नश्वरता, त्याग, आत्मसमपर्ण आदि पर जोर दिया। प्रेम साधना में वासना को निषिद्ध माना गया। अर्थात् उनका प्रेम अशरीरी था।

फारसी के सूफी प्रेमाख्यानों में नायक के प्रेम में अधिक तड़प और वेग दिखाई पड़ता है। नायिका का विवाह प्रेमी से न होकर अन्य व्यक्ति से होता है। प्रेमी का जीवन अत्यन्त कष्टप्रद और आदर्शवादी होता है। फारसी के सूफी प्रेमाख्याओं में संभोग का चित्रण नहीं किया गया है, लेकिन कहीं-कहीं उनमें भी मांसल प्रेम दिखाई पड़ता है।

NMDC-064

8.3 हिंदी प्रेमाख्यान

अभी तक आपने फारसी के सूफी काव्य की सामान्य रूपरेखा के बारे में जानकारी प्राप्त की। अब आपको हिंदी के सूफी प्रेमाख्याओं के बारे में जान लेना आवश्यक है।

पहले कहा जा चुका है कि अमीर खुसरो पहले भारतीय कवि हैं जिन्होंने निज़ामी से प्रेरणा ग्रहण कर प्रेमाख्यान लिखे और सूफी मत का प्रतिपादन किया। अमीर खुसरो के 50 वर्ष बाद हिंदी में सूफी काव्य की रचना प्रारंभ हुई। अब तक प्राप्त जानकारी के अनुसार असाइत कृत **हंसावली** (1370ई.) ही हिंदी का पहला सूफी काव्य है। इसके बाद मुल्ला दाउद ने **चन्दायन** (1379) नामक सूफी काव्य की रचना की। दामोदर कवि कृत लखमसेन **पद्मावती** कथा (1459ई.), कुतुबन कृत **मृगावती** (1503 ई.), गणपति कृत **माधवानल कामकन्दला** (1527ई.), जायसी कृत **पदमावत** (1540ई.), मंझन कृत **मधुमालती** (1545ई.), उसमान कृत **चित्रावली** (1613ई.) आदि हिंदी के प्रमुख प्रेमाख्यानक काव्य हैं। हिंदी प्रदेश के आलावा दक्षिण भारत में भी अनेक प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए जिनमें मसनवी **कदमराव पदमराव** (14 ई.), मुल्ला वजही कृत **कुतुब मुश्तरी** (1610ई.), नुसरती कृत **गुलशने इश्क़** (1658ई.), इब्न निशाती कृत **फूलबन** (1665ई.) आदि प्रमुख हैं।

भारतीय काव्य की प्राय: सभी आरंभिक प्रेम कथाएं वैदिक और पौराणिक प्रेम कथाओं के आधार पर लिखी गई हैं। संस्कृत साहित्य के बाद पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की प्रेमकथाओं का आधार प्राय: ऐतिहासिक और काल्पनिक है। सूफियों से पहले जैनियों ने भारत की प्रचलित प्रेमकथाओं के आधार पर चरित काव्य लिखे और उनके द्वारा जैन धर्म का प्रचार किया। इसी तरह सूफी कवियों ने भी लोक प्रचलित प्रेमकथाओं या ऐतिहासिक प्रेमकथाओं के आधार पर सूफी मत का प्रतिपादन किया। इस तरह संस्कृत से लेकर पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की प्रेमकथाओं में आदर्शवादी प्रेम का चित्रण किया गया है तथा प्रेम को उदात्त बनाने की कोशिश की गई है। हिंदी के असूफी प्रेमाख्यानों में इसी भारतीय परंपरा का अनुकरण किया गया है। तात्पर्य यह है कि भारतीय साहित्य में नायिकाओं को प्राय: कोमल, संवेदनशील, साहिष्णु और पतिव्रता के रूप में चित्रित किया गया है, लेकिन फारसी की प्रेमकथाओं की नायिकाओं की अपेक्षा नायकों को अधिक प्रेमी, सहिष्णु, संवेदनशील और एकनिष्ठ चित्रित किया गया है। लैला-मजनूं मे मजनूं का एकनिष्ठ प्रेम लैला के प्रति है और शीरीं-फरहाद में फरहाद का एकनिष्ठ प्रेम शीरीं के प्रति है। वास्तव में फारसी के सूफी प्रेमाख्याओं के नायकों के लिए उनकी प्रेमिकाएं उनकी प्रेरणा हैं, साधन और साध्य हैं।

भारतीय सूफी प्रेमाख्यानों में शृंगार के दोनों पक्षों -संयोग और वियोग का चित्रण किया गया है, किंतु फारसी के सूफी प्रेमाख्यानों में केवल वियोग का चित्रण किया गया है।

तात्पर्य यह है कि भारतीय और फारसी काव्य में प्रचुर मात्रा में प्रेमाख्यान लिखे गए, किंतु दोनों में अंतर है। हिंदी के सूफी कवियों ने फारसी सूफी काव्य के कुछ आदर्शों को जरूर अपनाया, किंतु हिंदी के प्राय: सभी सूफी कवियों ने कथावस्तु का चयन भारतीय प्रेम कथाओं से ही किया। सामान्यतया देखा जाए तो फारसी की मसनवी शैली को छोड़कर हिंदी के सूफी प्रेमाख्यान विशुद्ध भारतीय हैं। यहाँ तक कि सूफी दर्शन की 'फना' की अवधारणा ही भारतीय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'फन' बौद्धों के निर्वाण की प्रतिध्वनि थी। इसीलिए शुक्ल जी ने सूफी मत की भक्ति और भारतीय नवधा भक्ति को समान माना है। उस पर भारतीय वेदान्त का भी प्रभाव पड़ा। मंसूर हल्लाज का अनलहक़ भारतीय वेदान्त का 'अहं क्रह्मास्मि' ही है।

8.4 पदमावत में प्रेमकथा

पिछली इकाई में जायसी के कवि व्यक्तित्व की चर्चा के दौरान पदमावत के लोक कथात्मक तत्वों की ओर संकेत किया जा चुका है। पदमावत का नागमती वियोग खंड तो पूरी तरह लोककाव्य बारहमासा की तर्ज पर रचा गया है। आपके लिए यह जान लेना जरुरी है कि प्रबंध काव्य में बारहमासा का प्रयोग पूरी तरह भारतीय है। फारसी के सूफी प्रेमाख्यानों में बारहमासे का प्रयोग नहीं दिखाई देता।

भारत में लोकगाथाओं का अभाव तो नहीं है, किंतु जिस तरह अरब-फारस में लैला-मजनूं, शीरीं-फरहाद और यूसुफ-जुलेखा जैसी कथाएं दन्तकथाएं बन गईं उस रूप में वेदों और पुराणों में वर्णित प्रेम कथाएं दन्तकथा नहीं बन सकीं। लोक में प्रचलित न होने के कारण उनका विस्तार जन सामान्य तक नहीं हुआ, लेकिन उन कथाओं को आधार बनाकर संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में अनेक काव्य लिखे गए। दुष्यंत-शकुंतला, उषा-अनिरुद्ध, नल-दमयन्ती, माधवानल-कामकंदला ऐसी ही कथाएं हैं। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि भारत में लोकगाथाएं हैं ही नहीं। तोता-मैना और सारंगा-सदाबृज ऐसी लोककथाएं हैं जो भारतीय जनमानस में रची-बसी हैं, लेकिन इनको आधार बनाकर किसी उत्कृष्ट काव्य की रचना नहीं की गई।

कहने को तो भारत में **हितोपदेश, कथा सरित्सागर, सिंहासन बत्तीसी** और **बैताल पच्चीसी** जैसे अनेक ग्रंथ हैं जिनमें रोचक और अतिरंजक कथाओं की भरमार है, किंतु आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार इतिवृत्त होने के कारण इन्हें काव्य नहीं कहा जाता। ये कहानियाँ भी मनोरंजन करती हैं और कुतूहल, जिज्ञासा और उत्कंठा पैदा करती हैं, किंतु इनसे न तो भावोद्रेक होता है और न ही रसोद्रेक। शुक्ल जी ने यह भी लिखा है कि इसके बावजूद कुछ ऐसी भी कहानियाँ जनसाधारण में प्रचलित होती हैं जिनके बीच-बीच में भावोद्रेक करने वाली दशाएं पड़ती चलती हैं। इन्हें हम रसात्मक कहानियाँ कह सकते हैं। इनमें भावुकता का अंश बहुत कुछ होता है और ये अनपढ़ जनता के बीच प्रबंध काव्य का ही काम देती हैं।

यहाँ एक रोचक तथ्य का उल्लेख करना जरूरी लगता है। ऊपर कहा जा चुका है कि **हितोपदेश, सिंहासन बत्तीसी** और **बैताल पच्चीसी** आदि को काव्य की श्रेणी में नहीं रखा जाता, किंतु हिंदी के पहले प्रेमाख्यानक ग्रंथ **हंसावली** की कथा का आधार विक्रम एवं बैताल की कथा ही है। असाइत ने स्वयं इसका उल्लेख हंसावली में किया है-

बावन बीर कथा रस लीउ। ऐह पवाडु असाइत कहिउ।

लेकिन इस प्रेमाख्यान की कथा पूरी तरह लोक गाथात्मक है, क्योंकि इसमें लोकगाथा के सभी प्रमुख तत्व मौजूद हैं जिनसे रसोद्रेक नहीं होता, केवल उत्कंठा और कुतूहल पैदा होता है। लेकिन जायसी से पूर्व ही कल्लोल नामक कवि ने राजस्थानी प्रेमाख्यान के आधार पर **ढोला मारू रा दूहा** (1393ई.) की रचना की थी जो लोकगाथा के तत्वों से परिपूर्ण है। जायसी के **पदमावत** पर इसका प्रभाव पड़ा होगा, ऐसा अनुमान लगाना गलत न होगा।

हिंदी के इन दो प्रेमाख्यानों से पहले अपभ्रंश में **संदेशरासक** जैसे विशुद्ध लोकगात्थात्मक काव्य की रचना हो चुकी थी। इस प्रेमाख्यान में प्रेम का जितना उदात्त रूप दिखायी पड़ता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। हिंदी के कवियों पर अद्दहमाण की इस लौकिक प्रेम पर आधारित रचना का बहुत प्रभाव परिलक्षित होता है। लेकिन **संदेशरासक** में संस्कृत के दूत काव्यों और लोकपरंपरा का सामंजस्य भी दिखाई पड़ता है। इसी तरह **बीसलदेवरासो** में भी दोनों परम्पराओं का समावेश किया गया है।

अभी तक आपने सूफी प्रेमाख्यानों से पूर्व के लोकगाथात्मक काव्यों के बारे में जानकारी प्राप्त की। अब **पदमावत** के लोकगाथात्मक रूप पर विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि इससे न केवल **पदमावत** के स्वरूप निर्धारण में मदद मिलेगी, बल्कि जायसी के कवि व्यक्तित्व को परखने में भी सहायता मिलेगी।

पिछली इकाई में कहा जा चुका है कि **पदमावत** मानवीय प्रेम, करुणा, उत्साह और उसकी ट्रेजेडी को निरूपित करने वाला काव्य है। अपनी मूल प्रकृति में **पदमावत** को एक त्रासदी मानने वाले आलोचक विजय देव नारायण साही के अनुसार जायसी की चिंता का मुख्य ध्येय मनुष्य है। यह प्रेम और युद्ध की कविता है। इस कथा को इतिहास मानना भूल होगी। वास्तव में **पदमावत** न तो किसी मत को प्रतिपादित करने वाला काव्य है और न ही उसका कवि किसी संप्रदाय का प्रचारक। उसने इतिहास को लोकगाथा से मिलाकर अपनी कल्पना से एक ऐसी कथा का सृजन किया जिसे ऐतिहासिक मान लिया गया। ध्यातव्य है कि जायसी से पूर्व नारायण दास ने **छिताई वार्ता** लिखी थी जिसमें छिताई-रामदेव और अलाउद्दीन आदि ऐतिहासिक पात्रों की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। **छिताई वार्ता** का अलाउद्दीन छिताई का अपहरण कर लेता है। इसी तरह **पदमावत** का अलाउद्दीन भी पदमावती को प्राप्त करने के लिए

अनेक प्रयास करता है, किंतु अंततः उसे कुछ हासिल नहीं होता। दरअसल जायसी ने अपने प्रेमाख्यान के लिए रतनसेन नामक ऐतिहासिक पात्र को ले लिया और बाकी कथा अपनी कल्पना से जोड़ ली। यह जायसी की कल्पना का ही कमाल है कि उन्होंने एक ऐसी कथा को बुना जिसे लोग इतिहास मानने के लिए विवश हो गए।

अधिकांश आलोचक **पदमावत** को दो भागों में विभाजित करके उसका मूल्यांकन करते हैं- रत्नसेन की सिंहलद्वीप यात्रा से लेकर पद्मिनी के साथ पुनः चित्तौड़ लौटने तक पूर्वार्द्ध और राघवचेतन के निकाले जाने से लेकर पदमावती के सती होने तक उत्तरार्द्ध। रतनसेन का हीरामन तोते से पदमावती के रूप सौंदर्य को सुनकर योगी के वेश में सोलह हजार योगियों के साथ सिंहलद्वीप जाना, पदमावती को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के कष्टों को सहन कर वापसी में समुद्र का कोपभाजन बनकर बिछुड़ना आदि कथाएं परी-कथाओं जैसी हैं। पदमावती की पूर्वार्द्ध की कथा बिल्कुल लोकगाथाओं जैसी है। निस्संदेह यह कथा लोक में प्रचलित रही होगी। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि ऐतिहासिक घटनाएं भी लोकरुचि में रंगकर लोकगाथात्मक हो जाती हैं। उनमें चमत्कार तथा अतिमानवीय घटनाएं जुड़ जाती हैं। स्वयं कबीर इसके शिकार हो चुके हैं। लोक में कबीर और गोरखनाथ को लेकर ऐसी न जाने कितनी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं जो बिल्कुल झूठी हैं। जायसी ने लोकरुचि को पर्याप्त सम्मान दिया है और लोक प्रचलित कथा को रतनसेन की ऐतिहासिक कथा में इस तरह मिला दिया कि उस कथा में लोककथा से गायब हो गई और वह एक कल्पित इतिहास बन गई जिसे बाद में आलोचकों ने वास्तविक इतिहास मानने की भूल कर डाली। वस्तुतः यह मान लेना ठीक होगा कि **पदमावत** लोकगाथा के आधार पर रचा गया जायसी का लौकिक काव्य है जिसमें मनुष्य प्रेम, उत्साह, घृणा और संभावनाओं के साथ संघर्ष करता है, हारता है, जीतता है। किसी को यहाँ मोती मिलता है तो किसी को घोंघा और सेवार (देखिए मानसरोवर खंड) जिसे अपनी अभिलषित वस्तु नहीं मिलती वह एक मुट्ठी धूल उठा कर यह कहने पर मजबूर हो जाता है कि यह दुनिया झूठी है -

छार उठाइ लीन्ह एक मूठी। दीन्ह उड़ाइ, पिरथिमी झूठी।।

हिंदी के सूफी काव्यों में अनेक कथानक रूढ़ियों और प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। ये कथानक रूढ़ियाँ प्रायः एक जैसी हैं। प्रतीकों की योजना सिर्फ मत प्रतिपादन के लिए की गयी है। **पदमावत** में इस तरह का कोई प्रतीक नहीं है जो तसव्वुफ का प्रतिपादन कर सके हाँ, **पदमावत** में कथानक रूढ़ियाँ जरूर हैं। मानवेतर प्राणी के रूप में हीरामन का आदमी की तरह बातें करना, महेश-पार्वती का रत्नसेन की परीक्षा लेना फिर उसे सिद्धि गुटका और रतनसेन को सूली देने के समय महेश-पार्वती का नट-नटिनी का रूप धारण कर वहाँ पहुँचना, जोगियों का सिघंल द्वीप के सैनिकों से युद्ध, हनुमान द्वारा जोगियों की सहायता, शिव का युद्ध में जाना, रतनसेन का पदमावती से तथा सोलह हजार योगियों का पद्मिनी स्त्रियों से विवाह, समुद्र का नायक के रूप में रतनसेन से भिक्षा मांगना, रतनसेन द्वारा तिरस्कृत समुद्र का भीषण तूफान ला देना, रतनसेन-पदमावती का अलग-अलग दिशाओं में बह जाना, समुद्र की कन्या लक्ष्मी द्वारा दोनों को मिलाने का वचन देना और उनके पुनर्मिलन के बाद समुद्र द्वारा रतनसेन को पाँच अनमोल पदार्थ देना आदि घटनाएं लोक गाथाओं जैसी जिज्ञासा और कुतूहल उत्पन्न करने वाली अतिरंजनापूर्ण और अविश्वसनीय हैं। इसमें प्रेमकथाओं के वे सभी तत्व मौजूद हैं जो प्रेमकथा के लिए अनिवार्य होते हैं। इस तरह **पदमावत** का पूर्व भाग पूरी तरह लोक गाथात्मक है, किंतु **पदमावत** लोकगाथा नहीं हैं, एक काव्य है, जिसमें कवि की एक विशेष जीवन-दृष्टि है। यही जीवन-दृष्टि इसे लोक गाथा होने से बचाती है। **पदमावत** के लोक गाथात्मक रूप को समझाने के लिए उसके कुछ महत्वपूर्ण अंशों को देखना जरूरी है। सबसे पहले नागमती वियोग वर्णन को लिया जा सकता है।

नागमती वियोग वर्णन बारहमासे की तर्ज पर लिखा गया है, यह पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि लोककाव्य विधा बारहमासा का साहित्य में सर्वप्रथम प्रयोग अपभ्रंश काव्य **नेमिनाथचउपई** में किया गया। इसके बाद **बीसलदेवरासो** में बारहमासा का प्रयोग किया गया। इससे ज़ाहिर होता है कि सूफी कवियों में पहले ही साहित्य से लोककाव्य विधा का प्रवेश हो चुका था। यह इतना प्रभावशाली था कि जायसी इसे छोड़ नहीं सके और **पदमावत** में उन्होंने उसके द्वारा नागमती का जितना मार्मिक चित्रण किया उतना कोई कवि नहीं कर पाया।

जायसी प्रेम के कवि हैं। उन्होंने इस प्रेम की विशद व्यंजना **पदमावत** में की है। **पदमावत** का यह प्रेम त्रिआयामी है। एक तरफ नागमती है और दूसरी तरफ पदमावती। इन दोनों के केंद्र में रतनसेन है। लेकिन नागमती का चरित्र एक साधारण औरत और पत्नी का चरित्र है तथा पदमावती का चरित्र एक

प्रेमिका का। प्रेमिका होकर और अपने प्रेमी से वियुक्त होकर भी पदमावती में वह तड़प नहीं है जो एक साधारण औरत के रूप में नागमती में विद्यमान है। नागमती का यह चरित्र लोकगाथाओं की गृहस्थ स्त्रियों जैसा है। संभवतः इसीलिए जायसी का कवि नागमती की भावदशा में ज्यादा रमा है और इसीलिए जायसी नागमती के वियोग वर्णन को विशेष रूप से चित्रित करने में सफल हुए हैं।

विरह दशा में प्रेम अपनी संपूर्णता में परिलक्षित होता है। प्रेम है तो वियोग भी होगा। प्रेम में वियोग और रस दोनों है जैसे मोम के छत्ते में शहद और बर्रे दोनो रहते हैं -

प्रेमहिं मांह बिरह औ रसा। मैन के घर मधु अंब्रित बसा।

जायसी का प्रेम विशुद्ध भारतीय है। पति से वियुक्त होने पर नागमती पटरानी से एक सामान्य स्त्री में बदल जाती है जिसकी मुख्य चिंताओं में छोटी-छोटी बातें शामिल हैं, जैसे बरसात आ गयी, पति नहीं है। घर की मरम्मत कौन करेगा, उसके पास नए सिर से घर बनाने के सामान भी नहीं हैं -

कोरौं कहाँ ठाढ नव साजा? तुम बिनु कंत न छाजनि छाजा।

नागमती के वियोग वर्णन के वक्त जायसी की मनोदशा एक लोक कवि जैसी हो गयी है और नागमती खंड लोककाव्य। नागमती विरह की आग में तपकर अपने सारे गौरव-गर्व को भूल जाती है और अपनी सौत के पास पक्षी से भिजवाए संदेशों में कहती है कि यद्यपि मैं रत्नसेन की ब्याहता हूँ। किंतु मुझे भोग से कोई वास्ता नहीं है, मैं तो उन्हें अपनी आंखों से देखना चाहती हूँ -

पदमावति सौ कहेहु बिहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम।।
तोहि चैन सुख मिलै सरीरां। मो कहँ दिए दुंद दुख पूरा।।
हमहुँ बिआही सँग ओहि पीऊ। आपुहिं पाइ, जानु पर जीऊ।।
मोहिं भोग सौं काज न बारी। सौंह दिस्टि कै चाहनहारी।।

नागमती की यह सहृदयता और त्याग की पूरी अवधारणा लोक साहित्य की है। जायसी ने इसे लोकपरंपरा से ही ग्रहण किया है। वास्तव में नागमती वियोग खंड की पूरी संरचना लोकगाथाओं से प्रेरित है।

पदमावत के नागमती वियोग खंड के अलावा जहाँ जहाँ लोककथात्मक आधार ग्रहण किया गया है उनमें पदमावती सुआ भेंट खंड भी है। एक लंबे समय के बाद हीरामन पदमावती से मिलता है, पदमावती उसे गले से लगा लेती है, किंतु उसकी आंखों से आंसू गिरने लगते हैं-

आगि उठे दुख हिये गँभीरू। नैनहिं आइ चुवा होइ नीरू।।

एक राजकुमारी का एक तोते से इतना प्रेम और उससे मिलने की इतनी खुशी बिलकुल लोककथाओं और दन्तकथाओं जैसी है। इस तरह जायसी ने मानव प्रेम का विस्तार किया है। इसी तरह पदमावती का विश्वनाथ पूजा के लिए ब्राह्मण, अगरवार, बैस, चंदेल, चौहान, सोनार, कलवार, बनियाइन, कयथिन, पटइन और बरइन आदि स्त्रियों के साथ जाना भी लोकपरंपरा से गृहीत है। यह प्रेम की सामाजिकता है। लेकिन लोकपरंपरा की पूरी झलक वहाँ दिखाई पड़ती है जहाँ पदमावती एक सामान्य स्त्री की तरह अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए कहती है कि-

और सहेली सबै बियाहीं। मो कहँ देव कतहुँ बर नाहीं।।

पदमावती यहाँ एक राजकुमारी नहीं, बल्कि एक सामान्य घर की लड़की हो गयी है जो यह मन्नत मांगती है कि अगर मेरे योग्य वर से मेरी शादी हो जाएगी तो मैं आपकी पूजा करूंगी

बर सौं जोग मोहि मेरवहु, कलस जाति हौं मानि।
जेहि दिन हींछा पूजै, बेगि चढ़ावहुँ आनि।।

पदमावती का एक राजकुमारी की अपेक्षा एक सामान्य स्त्री के रूप में यहाँ जितना स्वाभाविक चित्रण हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

तात्पर्य यह है कि **पदमावत** की पूरी संरचना लोकगाथात्मक है, इसीलिए इसमें इतनी सजीवता, मार्मिकता और सरसता है।

8.5 पदमावत की प्रबंधात्मकता

पदमावत के लोककथात्मक रूप की जानकारी के बाद इसकी प्रबंधात्मकता पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में जायसी से पहले के हिंदी प्रेमाख्यानों- **मृगावती, मधुमालती, मधुमालती कथा, मुग्धावती, प्रेमावती, चित्रावली** और **इंद्रावत** की रचना को भारतीय चरित काव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न मानकर फारसी की मसनवी शैली पर माना है जिसमें कथा सर्गों में विस्तार के हिसाब से विभक्त नहीं होती, बराबर चली चलती है, केवल स्थान स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षक के रूप में रहता है। उसमें पहले ईश स्तुति, पैगम्बर की वंदना और उस समय के राजा की प्रशंसा होनी चाहिए। ये बातें **पदमावत, इंद्रावत, मृगावती** इत्यादि सब में पाई जाती हैं। यही नहीं, जायसी की प्रबंध कल्पना पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने **पदमावत** को दो भागों में बाँटा है - इतिवृत्तात्मक और रसात्मक। घटना या सामान्य वर्णन इतिवृत्त कहा जाता है और घटना का मनोदशाओं का भावपूर्ण चित्रण रसात्मक। **पदमावत** में ये दोनों विशेषताएँ दिखायी देती हैं। शुक्ल जी की भी यही मान्यता है कि रसात्मकता के संचार के लिए प्रबंध काव्य का जैसा घटनाचक्र चाहिए **पदमावत** का वैसा ही है।

डॉ. नगेंद्र द्वारा संपादित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में सूफी प्रेमाख्यानों के काव्य रूप के विवेचन के क्रम में इन प्रेमाख्यानों को मसनवी नहीं, कथा कहा गया है। इस विचार के प्रतिपादन में संस्कृत के काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों का उदाहरण देते हुए सूफी कवियों की कुछ पंक्तियाँ भी दी गई हैं, जैसे -

प्रेम कथा एहि भांति बिचारहु। - जायसी
कथा जगत जेती कबि आई। - मंझन
जाकी बुद्धि होइ अधिकाई। आन कथा एक कहै बनई। उसमान

इसी तरह कुछ ऐसे प्रेमाख्यान का भी उल्लेख किया गया है जिनके नाम में ही कथा शब्द का प्रयोग किया गया है, जैसे - **लखनसेन पदमावती कथा (दामोदर), सत्यवती कथा (ईश्वर दास), कथा रत्नावली, कथा कामलता, कथा कनकावती (जानकवि)** आदि। इस तरह यह सिद्ध किया गया है कि **"काव्य-रूप की दृष्टि से इन्हें परंपरागत कथा-काव्य के अंतर्गत ही लिया जाना उचित होगा।"** (हिंदी साहित्य का इतिहास, सं.डा.नगेन्द्र, पृ. 176)

उपर्युक्त मत से बिल्कुल असहमत नहीं हुआ जा सकता, क्योंकि हिंदी के सूफी कवि अगर अपने प्रेमाख्यान के लिए भारतीय प्रेम कथाओं या लोकगाथाओं से प्रभावित हो सकते हैं या उनके आधार पर काव्य ग्रंथ लिख सकते हैं तो वे उसके काव्य-रूप को भी अपना सकते हैं। चूंकि सूफी प्रेमाख्याओं में सर्गबद्धता नहीं है और उनमें घटनाओं के आधार पर शीर्षक दिए गए हैं, इसलिए इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने कम से कम प्रबंध कल्पना मसनवियों के आधार पर की है। जायसी का **पदमावत** भी मसनवी शैली में ही लिखा गया है।

यद्यपि **पदमावत** की कथा सुगठित है और उसमें प्रवाह भी है, किंतु पूर्वार्द्ध की कथा और उत्तरार्द्ध की कथा के संयोजन में अंतर है। पूर्वार्द्ध की कथा मन्द गति से चलती है और उत्तरार्द्ध की कथा अपेक्षाकृत तीव्रता से। लेकिन जायसी ने इन दोनों का सफल सामंजस्य किया है जिससे कथा में ठहराव नहीं आता।

इसी सिलसिले में विजयदेव नारायण साही के **पदमावत** की प्रबंध कल्पना संबंधी विचारों को जान लेना भी आवश्यक है। साही ने **पदमावत** के पूर्वार्द्ध को यूटोपिया, आलोक या सिंहल लोक कहा है जिसमें अतिप्राकृतिक घटनाएं हैं और उत्तरार्द्ध को इतिहास लोक, जो वस्तुत: इतिहास का वृत्तान्त नहीं, बल्कि इतिहास लोक निर्मित करता है। जायसी ने सत्य के नितान्त विभिन्न स्तरों पर, बिल्कुल भिन्न आयामों में कथा को फैलाने का जिम्मा ले कर बहुत बड़ा जोखिम उठाया है। इस तरह का जोड़ न तो पहले

मसनवियों में बैठाया गया था और न ही रामचरित मानस में। **पदमावत** एक सुगठित और एकतान संरचना का काव्य है।

साही जी के विचार तर्कसंगत हैं। निस्संदेह जायसी ने दो विभिन्न विरोधी प्रकृति की घटनाओं का सफलतापूर्वक सामंजस्य किया है। चूंकि **पदमावत** सूफी दर्शन को प्रतिपादित करने वाला ग्रंथ नहीं है, इसलिए जायसी ने रत्नसेन-पदमावती के विवाह के बाद भी कथा का अंत नहीं किया और उसे और आगे बढ़ाया। कथा को ट्रैजेडी बनाकर मानवीय, सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतिष्ठापित करना ही जायसी का उद्देश्य था, इसलिए उन्होंने ग्रंथ के अंत का कहीं ऐसे बिंदु या घटना से नहीं किया है जिससे पदमावत एक आदर्शवादी काव्य बन जाता।

8.6 पदमावत में लोकतत्व

यह जान लेने के बाद कि **पदमावत** की कथा में लोकगाथा और इतिहास का सामंजस्य किया गया है, आपको **पदमावत** में चित्रित लोक जीवन और लोक तत्वों से परिचित होना आवश्यक है। इससे जायसी के लोक संबंधी दृष्टिकोण का पता चलता है।

अब तक आपको यह मालूम हो चुका है कि **पदमावत** की कथा राजन्य वर्ग की कथा है, अर्थात् इस प्रेम कहानी का नायक रतनसेन चित्तौड़गढ़ का राजा है, नागमती उसकी पटरानी है और पद्मावती प्रेमिका। गंधर्वसेन सिंहल द्वीप का राजा पदमावती का पिता है और अलाउद्दीन दिल्ली का बादशाह। ज़ाहिर है कि जब कथा राजन्य वर्ग की है तो परिवेश भी वही होगा, किंतु **पदमावत** में ऐसा नहीं है। एक लोक कवि बहुत देर तक इस परिवेश में रह ही नहीं सकता। उसे जब भी मौका मिलेगा, वह लोक जीवन की ओर भागेगा। अगर उसे ऐसा करने का मौका नहीं मिलता तो वह उसी परिवेश को लोकमय बनाने की कोशिश करता है। जायसी ने भी ऐसा ही किया है। उन्हें जहाँ कहीं भी अवसर मिला है, उन्होंने लोकजीवन की सुंदर छवियाँ प्रस्तुत की हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जायसी ने विशिष्ट को ही 'सामान्य' बनाने की कोशिश की है। उन्होंने रत्नसेन को राजा से जोगी बना दिया है और लिखा है -

करब पिरीत कठिन है राजा

अर्थात् प्रेम मार्ग अत्यन्त कठिन है। कबीर के शब्दों में प्रेम के लिए सर्वप्रथम अहम् का त्याग करना पड़ता है और घनानंद के अनुसार प्रेम मार्ग अत्यन्त सीधा है, किंतु उस पर कुटिल और सयाने (जिनमें बांकपन है) नहीं चलते। राजा जब तक सत्ताभिमान से रहित नहीं हो जाता तब तक वह प्रेम कर ही नहीं सकता। जायसी अपनी इस उक्ति को चित्रित करने में सफल हुए और उन्होंने रत्नसेन को सत्ताच्युत करने के बाद ही उसके प्रेमपात्र से मिलवाया।

पदमावती की भी यही स्थिति है। पहले वह सुग्गे के उड़ जाने पर दुखी होती है और सखियों से कहती है कि जैसे भी हो उसे खोजो। और बहुत दिन बाद जब वह सुग्गा उससे मिलता है तो उसकी आंखें भर आती हैं और वह उसे गले से लगा लेती है। पदमावती की मुख्य चिंता अपने भावी पति को लेकर है। वह राजकुमारी है, देर-सबेर कोई न कोई राजकुमार मिल ही जाएगा, किंतु वह एक सामान्य स्त्री की तरह शिव मंदिर में मन्नत मांगती है कि अगर मेरे योग्य वर मिल जाएगा और मेरी इच्छा पूरी हो जाएगी तो मैं आपकी पूजा करूंगी। पदमावती के संग उसकी सखियाँ भी गयी हैं जो विभिन्न जातियों की हैं। नागमती वियोग खंड में तो नागमती का पूरा व्यक्तित्व ही एक सामान्य स्त्री का है।

पदमावत में लोककथाओं के तत्व भरे पड़े हैं। अत: इसमें यत्र-तत्र लोक जीवन का सुंदर चित्रण भी किया गया है। सिंहलद्वीप की पनिहारिन के चित्रण में जायसी ने पनघट का जो चित्र खींचा है वह अत्यन्त मनोहारी है। पनघट पर झुंड की झुंड पनिहारिन पानी भरने आ रही हैं। वे सुंदर हैं, पद्मिनियाँ हैं। वे जिसे नजर भर देख लेती हैं उस पर मानो तिरछे नैनों की कटार गिर पड़ती है। इन पनिहारिन के सिर पर सोने के घड़े हैं। इस प्रसंग में अत्युक्ति नहीं है। भारतीय लोकगीतों की सामान्य स्त्री भी सोने की थाली में अपने प्रिय को भोजन परोसती है और फूलों की सेज सजाती है। दरअसल इन सुंदरियों के रूप सौंदर्य के द्वारा जायसी ने पदमावती के अतीव रूप सौंदर्य को दिखाना चाहा है। जिस राजकुमारी की पनिहारिनें इतनी सुंदर हैं वह राजकुमारी कितनी सुंदर होगी-

माथे कनक गागरी आवहिं रूप अनूप।

NMDC-064

जेहि के अस पनिहारी सो रानी केहि रूप?

इसी तरह जायसी ने पदमावती के विवाह के समय हल्दी लगाने की रस्म का भी सुंदर चित्रण किया है। हल्दी तो सामान्य लोग लगाते हैं, राजकुमारियों को तो कुंकुम-चंदन आदि के लेप लगाए जाते हैं। और इसके बाद विवाह का जो दृश्य है वह तो पूरी तरह भारतीय स्त्रियों की पूरी तस्वीर प्रस्तुत कर देता है। बारात आ रही है और वे अपनी अपनी अटारियों पर चढ़कर बारात और दूल्हे को देखती हैं। पदमावती भी 'जोगी' को दूल्हे के वेश में देखने के लिए सखियों के संग कोठे पर चढ़ जाती है और पूछती है कि इस बारात में वह जोगी कहाँ है? पदमावती के इस प्रश्न का उत्तर एक सखी चतुराई के साथ देती है -

जस रबि, देखु, उठै परभाता। उठा छत्र तस बीच बराता।
ओहि मांझ भा दूलह सोई। और बरात संग सब कोई।

अर्थात् उस बारात के बीच पहले सूर्य की तरह चमकदार धूप को देखों, फिर उसके बीच दूल्हे को देखो।

पदमावत का मानसरोदक खंड पूरी तरह लोक तत्वों से भरा हुआ है। यह पूरा खंड प्रश्नोत्तरी शैली में है जिसमें मायके की स्वच्छन्दता का वर्णन किया गया है तथा ससुराल में इस स्वच्छन्दता के छिन जाने की आशंका भी प्रकट की गई है। भारतीय लोक मानस का यह परिचित दृश्य है। सामान्य घरों की स्त्रियों को ससुराल में अनेक बंधनों और निषेधों के बीच रहना पड़ता है। इसीलिए जब कोई युवती ससुराल जाने लगती है तो उसकी आंखें बरसने लगती हैं और वह घर-परिवार के लोगों और सखियों के गले लगकर रोती है। मायके के इसी प्रेम का स्वाभाविक चित्रण पदमावती की इस मनोदशा में देखा जा सकता है-.

गहबर नैन आए भरि आँसू। छांडब यह सिंघल कैलासू।
छांड़िउ नैहर, चलिउ बिछोई। एहि रे दिवसकहँ हँ हौ तब दोई।
छाड़िउं आपनि सखी सहेली। दूरि गवन तजि चलिउं अकेली।
नैहर आइ काह सुख देखा। जनु होइगा सपने कर लेखा।.
मिलहु सखी हम तहँवा जाहीं। जहाँ आइ पुनि आउब नाहीं।
हम तुम मिलि एकै संग खेला। अंत बिछोह आनि गिउ मेला।।

बादल को युद्ध में जाना है। उसकी नवविवाहिता वधू उसकी ओर देख रही है और सोच रही है कि इस समय मुझे क्या करना चाहिए। अगर मैं लज्जावश चुप रहती हूँ तो प्रिय चले जाएंगे और कुछ कहती हूँ तो वे मुझे ढीठ समझेंगे-

रहौं लजाइ तो पिउ चलै, कहौं तो कह मोहिं ढीठ।

लेकिन अंतत: उसका असली रूप प्रकट होता है और वह बादल को उसके क्षात्र धर्म की याद दिलाते हुए कहती है कि तुम युद्ध का साहस बांधो और मैं सती का बाना बनाती हूँ। हम दोनों का मिलन जय और पराजय की स्थिति में ही संभव है। अगर तुम रण में पीठ दिखा कर आए तो भी मैं तुम्हें नहीं मिलूँगी।

बादल की स्त्री के इस प्रसंग में राजपूताने का पूरा लोक जीवन सामने आ जाता है।

जायसी ने बनिजारा खंड में सिंहलद्वीप के हाट का जो चित्रण किया है वह अत्यंत स्वाभाविक है। यह पूरी तरह से लोक जीवन से सम्पृक्त है।

पहले कहा जा चुका है कि जायसी ने **पदमावत** में जहाँ भी अवसर मिला है वहाँ लोक जीवन का सजीव चित्रण किया है और जहाँ इसका अवसर नहीं मिला है वहाँ भी लोकतत्वों का प्रयोग किया है। यह पूरी कथा राजन्यवर्ग और सामान्य वर्ग के द्वंद्व के आधार पर आगे बढती है और अंतत: 'सामान्य' की ही जीत होती है। चाहे राजा रत्नसेन हो, चाहे रूपगर्विता नागमती- दोनों को सामान्य होना पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि **पदमावत** में लोकजीवन का प्रत्यक्ष चित्रण कम हुआ है, किंतु जितना भी हुआ है वह विशद और स्वाभाविक है। यह स्वाभाविकता ही पदमावत को लोक से संपृक्त कर देती है।

पिछले प्रकरण में आपने **पदमावत** में चित्रित लोकजीवन के बारे में जानकारी प्राप्त की; दरअस्ल **पदमावत** की कथा का आधार लोक प्रचलित कथा और ऐतिहासिक कथा है। इसलिए **पदमावत** में सहज रूप से लोक जीवन, लोकविश्वास आदि आ गए हैं। **पदमावत** की रचना प्रक्रिया को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि लोकजीवन से संबंधित ये प्रसंग ऊपर से थोपे गए हैं या बीच-बीच में जोड़े गए हैं। निस्संदेह इससे यह साबित होता है कि जायसी की लोक जीवन में गहरी पैठ थी।

भारतीय लोक मानस में कथा के कई रूप- किस्सा, कहानी, वृत्तांत-प्रचलित हैं। जायसी ने **पदमावत** में स्पष्ट रूप से लिखा है -

प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु।
बूझि लेउ जौ बूझै पारहु।।

दरअस्ल जायसी का उद्देश्य एक ऐसी प्रेम कथा लिखना था जिससे उच्चतर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हो सके। जायसी इस सुंदर और मनोहारी सृष्टि की नश्वरता से परिचित थे। इस संसार में एक से बढ़कर एक शक्तिशाली राजा हुए, सुंदरियाँ हुईं, किंतु वे सभी काल के गाल में विलीन हो गए - रह गई तो बस एक कहानी। यह 'कहानी' ही वह जीवन मूल्य है जो अनुकरणीय और अमिट है। जायसी का यह प्रतिपाद्य लोक विश्वास के अनुकूल भी है और शास्त्रानुकूल भी। तात्पर्य यह है कि जायसी को भारतीय लोक जीवन का अच्छा ज्ञान था और वे लोकजीवन से दूर जाना भी नहीं चाहते। इसका सबसे बड़ा प्रमाण राजन्य वर्ग का सामान्यीकरण है। अगर जायसी ऐसा न करते तो **पदमावत** आभिजात्य वर्ग की कथा बन कर रह जाता है और वह शास्त्रीय हो जाता। अपनी कृति को शास्त्रीय होने से बचाने के लिए ही जायसी ने इतिहास पर कम, लोक प्रचलित कथा पर ज्यादा जोर दिया है। यही कारण है कि **पदमावत** की नागमती की सारी चिन्ताएँ एक अभावग्रस्त सामान्य भारतीय स्त्री की चिंताएँ बन गई हैं और पदमावती का दुख एक लाचार औरत का, जिसके प्राण तोते में बसते हैं। तोते के उड़ जाने पर पदमावती रोती है। पदमावती के इस दुख से जायसी ने लोक गीतों की प्रश्नोत्तरी शैली में अत्यन्त सजीव बना दिया है -

उड़ि वह सुअटा कहँ बसा खोजहु सखी सो बासु।
दहुँ है धरति कि सरग गा पवन न पावै तासु।।
जहाँ न राति न देवस है जहाँ न पौन न पानि
तेहि बन होइ सुअटा बसा को रे मिलावै आनि।।

जायसी बहुश्रुत थे। लेकिन उन्होंने सुव्यस्थित रूप से ज्योतिष, शास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि का ज्ञान प्राप्त नहीं किया था। इन विषयों के संबंध में उनका ज्ञान लगभग जनश्रुतियों पर आधारित था। अवध में पदमावती की कथा लोक कथा के रूप में प्रचलित थी और उनसे पहले इस तरह की लोक कथाओं को लेकर असाइत और मुल्ला दाउद प्रेमाख्यान की रचना कर चुके थे, अत: जायसी ने भी लोक प्रचलित कथा को ऐतिहासिक कथा से जोड़ दिया और एक विशुद्ध प्रेमकथा को प्रेम और युद्ध की कथा बना दिया जो एक सफल त्रासदी बन गई। इस तरह जायसी ने एक प्रचलित लोक कथा का परिष्कार तो किया, किंतु उसे शास्त्रीय होने से बचा लिया।

यह सर्वविदित है कि जायसी का संबंध जायस से था। और यह भी भ्रांति जायसी एक मशहूर सूफी संत थे। एक सिद्ध फकीर के रूप में जायसी की ख्याति जायस के सुदूरवर्ती गाँवों तक थी, यह मान लेना ठीक नहीं है, क्योंकि मानव-मूल्यों का प्रवक्ता यह कवि बाह्याडंबरों और चमत्कारों में विश्वास नहीं कर सकता था। दरअस्ल जायसी की ख्याति का आधार उनका 'कबित्त' ही था, जिसमें मार्मिकता है। करुणा है, त्रासदी है जो निस्सार तथा नश्वर जीवन के प्रति सहज अनुराग की भावना जगाता है - भले ही यह अनुराग क्षण भर का ही क्यों न हो। क्षणभर का सच्चा अनुराग ही अमर है। इसीलिए जायसी ने लिखा है कि इसी सहज अनुराग और निर्मल स्वभाव के कारण रूपवंत भी उनके पाँव पड़ते थे और उनका मुँह देखते थे -

एक नैन जस दरपन औ तेहि निरमल भाउ।
सब रुपवंत पाँव गहि मुख जोवहिं कइ चाउ।।

NMDC-064

स्पष्ट है कि जायसी कवि हैं और उनके जीवन में भी उनकी ख्याति का यही आधार था। जायसी बायीं आंख और बांया कान खो चुके थे, अर्थात् वे कुरूप थे, इसीलिए जो उन्हें देखता था वह हँसता था, किंतु जब वह उनका 'कबित्त' सुनता था तो रो पड़ता था -

मुहमद कबि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसु।
जेइं मुख देखा तेइं हँसा सुना तौ आये आँसु।।

वास्तव में जायसी अपनी कविताई के कारण ख्याति प्राप्त कर चुके थे और उनकी ख्याति का आधार उनका लोक जीवन से गहरा लगाव ही था। डॉ. श्रीनिवास बत्रा ने ठीक ही लिखा है कि **जायसी भारत की ग्राम्य जनता के कवि हैं।** इसीलिए उन्होंने अवधी के ठेठ रूप को अपनाया है। नूर मुहम्मद की तरह जायसी ने हिंदी की अवधी बोली में इसलिए काव्य रचना नहीं की कि उसके द्वारा इस्लाम का प्रचार किया जाए और उसे घर-घर पहुँचा दिया जाए।

भारतीय समाज में लड़की को 'पराया धन' समझा जाता है। मायके में उसे जितनी स्वच्छंदता मिलती है उतनी ससुराल में नहीं। लड़कियाँ जानती है कि आज नहीं तो कल वे ब्याह दी जाएंगी और ससुराल जाते ही उनकी सारी स्वतंत्रता छिन जाएगी, सास-ननद ताने मारेंगी। ससुराल से मायके आना भी ससुराल वालों की मर्जी पर निर्भर करता है। इस लोकमत और कटु यथार्थ को जायसी ने कितने सुंदर ढंग से चित्रित किया है-

ए रानी! मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।।
जौ लागि अहैपिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू।।
पुनि सासुर हम गवनब काली। कित हम, कित यह सरवर पाली।।
कित आवन पुनि अपने हाथा। कित मिलि कै खेलब एक साथा।।

तात्पर्य यह है कि जायसी के **पदमावत** का रूप-विन्यास लोक कथात्मक है और उसकी कथा के आन्तरिक सूत्र लोकजीवन से जुड़े हुए हैं। यह महज इत्तेफाक नहीं कि जायसी इसी आन्तरिक लगाव के कारण लोक कवि के रूप में मशहूर हो गए हों। इसमें उनकी भाषा का भी कम महत्व नहीं है। जायसी के पूर्व के या उनके समकालीन सूफी कवियों की अस्थिर और खिचड़ी भाषा को देखकर यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि जायसी की कविता का प्राण आन्तरिक रूप से लोक संगीत है तो बाह्य रूप से ठेठ अवधी की मिठास।

8.7 जायसी की भाषा

अन्त में जायसी की भाषा पर विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि भाषा ही वह तत्व है जिसके द्वारा भावों और विचारों को अभिव्यक्त किया जाता है।

यह सर्वविदित है कि जायसी ने अपने **पदमावत** और अन्य काव्य ग्रंथों की रचना अवधी में की है। जायसी की अवधी तुलसीदास की अवधी से भिन्न है। जायसी की अवधी ठेठ अवधी है, जो लोक भाषा के बहुत निकट है जबकि तुलसीदास की अवधी परिष्कृत अवधी। जायसी ही नहीं, सभी सूफी कवियों की भाषा ललित, मधुर एवं सुबोध ठेठ अवधी है। डॉ. श्रीनिवास बत्रा के अनुसार "**ठेठ तथा तद्भव शब्द रूपों, लोक प्रचलित उक्तियों एवं मुहावरों आदि की दृष्टियों से सूफियों के प्रेमाख्यान लोकभाषा के महाकोश हैं।**" लेकिन हिंदी के असूफी प्रेमाख्यानों में अवधी, ब्रज और राजस्थानी आदि विभिन्न प्रकार की भाषाओं का प्रयोग हुआ है।

तात्पर्य यह है कि हिंदी के प्रेमाख्यानों में केवल अवधी का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल उत्तरी भारत के हिंदी प्रेमाख्यानों में अवधी भाषा का प्रयोग हुआ है। दक्षिण के प्रेमाख्यानों की भाषा दक्खिनी है और इन पर अरबी-फारसी का गहरा प्रभाव है। 12वीं शताब्दी के प्रेमाख्यान **राउलवेल** (रोडा कवि) की भाषा पुरानी दक्षिण कोसली है। **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** की भाषा भी पुरानी कोसली है। दरअस्ल भारत के सूफी कवियों ने प्राय: उसी भाषा को अपनी काव्य भाषा बनाया जहाँ वे रहते थे। पंजाबी के सूफी कवियों ने पंजाबी में और बंगाल के सूफी कवियों ने बंगला में प्रेमाख्यान लिखे। हिंदी के अधिकांश कवियों का संबंध चूंकि उत्तर भारत के अवधी भाषी क्षेत्र से था, इसलिए उन्होंने अवधी में ही अपने काव्यों की रचना की। अवधी भाषी क्षेत्र से सटे अन्य बोलियों के कवियों ने भी अवधी को ही अपनी काव्य भाषा बनाया, क्योंकि अवधी सूफी संप्रदाय की भाषा बन गयी थी। यही कारण है कि उसमान जैसे भोजपुरी

भाषी क्षेत्र के कवि ने भी अवधी को ही अपनी काव्य भाषा बनाया। हालांकि उनकी भाषा पर भोजपुरी का भी प्रभाव है।

जायसी ही नहीं, प्राय: सभी सूफी कवियों का लोक से गहरा संबंध था, इसीलिए उनकी भाषा भी लोकजीवन की भाषा है। परशुराम चतुर्वेदी ने जायसी की भाषा के बारे में लिखा है कि -''जायसी की सफलता उनकी सादी एवं आलंकरिक भाषा के व्यवहार में भी पायी जाती है। कहीं-कहीं उसमें यदि अनजान का अल्हड़पन आ जाता है तो अन्य एक मजी हुई लेखनी द्वारा निकले हुए प्रौढ़ उद्गारों की बहार भी देखने को मिलती है।''

जायसी की काव्य भाषा ठेठ अवधी अर्थात् जन सामान्य द्वारा बोली जाने वाली अवधी है, किंतु वह अवधी के व्याकरण के अनुकूल है। जायसी ने अवधी में कारक चिह्नों का सफल प्रयोग किया है। उन्होंने पुरानी अवधी के बहुत से अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया है। ऐसे शब्द **रामचरित मानस** में कम हैं। इस से स्पष्ट होता है कि बोलचाल की अवधी पर जायसी की कितनी जबर्दस्त पकड़ थी। कुछ अप्रचलित शब्द, जिनका प्रयोग **पदमावत** में हुआ है, जैसे अहक (लालसा), नौजि (ईश्वर), जहिया (जब), तीवइ (स्त्री), मोकाँ (मुझको), महूँ (मैं भी), अधिकै (और भी अधिक), शुक्ल जी के अनुसार साहित्यज्ञों को ग्राम्य लगेंगे। इसी तरह जायसी ने उच्चारण में संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति को भी अपनाया है और 'कर' के स्थान पर केवल 'क' लिखा है। तुलसी ने भी इस प्रवृत्ति का अनुसरण किया है। यही नहीं, जायसी ने चरण के अंत में लघ्वंत पद को दीर्घांत कर दिया है। अत: जायसी की कविता में चरण के अंत में आए हुए पद के लिंग का निर्णय करते समय यह विचार कर लेना जरूरी होता है कि वह छंद की दृष्टि से लघ्वंत से दीर्घांत तो नहीं किया गया है, जैसे -

देखि चरित पदमावति हँसा।

उपर्युक्त पद में हँसा वास्तव में 'हँस' है जिसे छंद की दृष्टि से दीर्घांत कर दिया गया है।

लेकिन ठेठ अवधी को काव्य भाषा बनान आर उसक व्याकरणिक नियमों का पालन करने के बावजूद जायसी की भाषा में कहीं-कहीं कुछ दोष आ गए हैं। उन्होंने सर्वनामों, अव्ययों और विभक्तियों का लोप कर दिया है। इसलिए अर्थ लगाना कठिन हो जाता है। जायसी के संबंधवाचक सर्वनामों के लोप के बारे में रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि इस मामले में जायसी अंग्रेज कवि ब्राउनिंग से भी आगे निकल गए हैं। इसी तरह उन्होंने कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिसमें अप्रयुक्तत्व दोष हैं, जैसे - बिसवास। दरअस्ल यह शब्द विश्वासघात के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बिसवास, बिसासी या बिससापी का विश्वासघात और विश्वासघाती के अर्थ में प्रयोग घनानंद और दूलह कवि ने भी किया है। कहीं-कहीं जायसी ने फारसी के पूरे के पूरे वाक्य को ले लिया है, किंतु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं। और जहाँ ये सामासिक पद प्रयुक्त हुए हैं वे संस्कृत के अनुसार नहीं, विपरीत क्रम से हुए हैं। जैसे - **लीक पखान और किरिन रवि।**

जायसी ने बोलचाल की अवधी के अलावा बीच-बीच में नए-पुराने, पूरबी-पच्छिमी कई प्रकार के भाषा-रूपों को भी अपनाया है। इसलिए उनकी भाषा स्वच्छ, सुबोध और मधुर होते हुए भी अव्यवस्थित है। लेकिन न्यून पदत्व, विभक्तियों, संबंधवाचक सर्वनामों और अव्ययों के लोप के बावजूद जायसी की भाषा में जितनी मिठास और सादगी है उतनी किसी कवि में नहीं। रामचंद्र शुक्ल के अनुसार जायसी की भाषा का माधुर्य ''भाषा का माधुर्य है, संस्कृत का माधुर्य नहीं। वह संस्कृत की कोमलकांत पदावली पर अवलंबित नहीं। उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है। जायसी की पहुँच अवध में प्रचलित लोक भाषा के भीतर बहते हुए माधुर्य स्रोत तक ही थी।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी की भाषा वह 'बहता नीर' है जिसमें ताजगी है और जो जन-जन की भाषा है। जायसी चूँकि लोकजीवन से गहराई से जुड़े थे इसीलिए उनकी भाषा भी उसी भाषा का अनुसरण करती है जिसे अवध में लोग बोलते थे। इसीलिए जायसी की भाषा में अवधी के मुहावरे, कहावतें और लोकोक्तियाँ भी अनायास आ गई हैं जिससे उनकी भाषा अधिक व्यंजनात्मक हो गयी है।

NMDC-064

8.8 सारांश

इस इकाई में आपने भारतीय और फ़ारसी काव्य परपरा का अध्ययन करते हुए हिंदी प्रेमाख्यान, **पदमावत** में प्रेम कथा, उसकी प्रबंधात्मकता में लोकतत्व तथा उसकी भाषा का परिचय प्राप्त किया।

भारतीय और फ़ारसी काव्य में प्रेम का विशिष्ट स्थान है। भारत में प्रेम को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। आध्यात्मिक क्षेत्र में मधुरा भक्ति इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। जिस तरह फारसी लोककथाओं के आधार पर मसनवियाँ लिखी गयीं, उसी तरह हिंदी में भी प्रेम कथाओं और लोककथाओं के आधार पर प्रेमाख्यान लिखे गये। जायसी ने भी इतिहास और लोककथा का समन्वय कर **पदमावत** की रचना की।

आपने देखा कि हिंदी से पहले संस्कृत, पालि और अपभ्रंश में भी लोककथात्मक काव्यों की रचना की गयी है। हिंदी के पहले सूफ़ी कवि असाइन ने विक्रम-बैताल की कथा के आधार पर **हंसावली** की रचना की थी। **पदमावत** लोकगाथात्मक काव्य ग्रंथ है। अन्य सूफ़ी कवियों की तरह जायसी ने भी फ़ारसी सूफ़ी काव्य के कुछ आदर्शों को अपनाया है। लेकिन उनका रुझान ज्यादातर भारतीय है। उन्होंने नागमती वियोग खंड को लोककाव्य बारहमासा की तर्ज़ पर लिखा है। उंन्होंने नागमती को रानी से सामान्य स्त्री, रत्नसेन को राजा से योगी और पदमावती को राजकुमारी से सामान्य युवती की तरह चित्रित किया है। अर्थात् जायसी ने राजन्य वर्ग का सामान्यीकरण किया है।

पदमावत लोकतत्वों से भरपूर है। उसकी आंतरिक संरचना किंवदंतियों और निजंधरी कथाओं जैसी है। **पदमावत** में भारतीय लोकजीवन, लोकविश्वास, लोकधारणाएं आदि समाहित हैं। पनघट हो या विवाह के समय हल्दी लगाने की रस्म, बारात देखने का दृश्य हो चाहे पदमावती-नागमती के सती होने का प्रसंग, पदमावती-सुए के संवाद, सभी घटनाएं लोकतत्वों से प्रेरित हैं।

जायसी ने **पदमावत** का रूप-विधान लोककथात्मक रखा है। रसात्मकता के संचार के लिए प्रबंधात्मकता का जैसा घटनाक्रम होना चाहिए, **पदमावत** का वैसा ही है। **पदमावत** की कथा दो विरोधी प्रकृत्ति की घटनाओं के बावजूद सुगठित है और उसमें प्रवाह भी है।

जायसी की भाषा अवधी है। उनकी कविता का प्राण आंतरिक रूप से लोकसंगीत है और बाह्य रूप से ठेठ अवधी का माधुर्य। उनकी भाषा जनसामान्य द्वारा बोली जाने वाली अवधी है और वह उसके व्याकरण के अनुकूल है। हालांकि जायसी की भाषा में कुछ अप्रयुक्तत्व दोष भी हैं, किंतु इसके बावजूद जायसी की भाषा में जितनी मिठास है वह दूसरे कवियों में नहीं है।

8.9 अभ्यास/प्रश्न

1. फ़ारसी सूफ़ी काव्य और हिंदी सूफ़ी काव्य में क्या अंतर है?
2. क्या पदमावत सूफ़ी काव्य है अथवा प्रेम काव्य?
3. लोकतत्व से आप क्या समझते है? पदमावत में वर्णित लोकतत्वों का परिचय दीजिए।
4. जायसी की भाषा का प्राण लोक संगीत है। जायसी की भाषा के संदर्भ में इसका विवेचन कीजिए।

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
कबीर वाणी, अली सरदार जाफ़री, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
जायसी, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद।
जायसी, डॉ0 परमानंद श्रीवास्तव, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
जायसी ग्रंथावली (भूमिका), रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
भारतीय चिंतन परंपरा, के. दामोदरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
सांप्रदायिकता और संस्कृति के सवाल, प्रो0 इरफान हबीब, सहमत, दिल्ली।

NMDC-064